भाषा-साहित्य और संस्कृति



डा० रामविलास शर्मा



किताब महल, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५४

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—यूनियन प्रेस, प्रयाग।

सूची पत्र

जनतंत्र और हिन्दी

इक्कीस दिसम्बर १९४७ के 'जनयुग' में साम्प्रदायिकता और सम्मेलन के सम्बन्ध मे मेरा एक लेख छपा था जिसका उत्तर अठाईस दिसम्बर के 'जनयुग' मे भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने दिया है। उसके बारे में दो-चार शब्द और कहना जरूरी है।

अपने लेख में सम्मेलन के उन महारथियो का उल्लेख मैंने किया था जो हिन्दी के प्रश्न को एक साम्प्रदायिक रूप दे रहे हैं। भदन्तजी कहते हैं कि ये कुछ छोटे-मोटे उदाहरण हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में भी दिखायी देने पर' मै शेर आया, शेर आया कहकर खतरे की घण्टी बजाने लग गया हूँ। क्या ही अच्छी बात हो कि ये उदाहरण 'कुछ' ही हों और साथ मे 'छोटे-मोटे' भी। बम्बई के अधिवेशन से उनकी सख्या घटने के बजाय और बढ गयी है!

साम्प्रदायिकता और पूँजीवादी आक्रमण से आगाह करना सभी हिन्दी-साहित्यिकों को 'खोंच' मारना नहीं हो सकता। खोच यदि लग सकती है तो साम्प्रदायवाद के प्रेमियों को ही!

यह बात नहीं है कि भदन्तजी पूँजीवाद या साम्प्रदायिकता के खतरे को जानते न हों। इस मामले में वह औरो से चार कदम आगे हैं। वह आज की थोड़ी-बहुत राजनीति ही नही, 'सारी राजनीति' को 'सम्प्रदाय-वाद से सचालित मानते हैं। लेकिन इसका साहित्य या सम्मेलन के क्षेत्र मे कोई खतरा उन्हें नहीं दिखायी देता।

निस्सन्देह, पूँजीवाद-विरोधी और साम्प्रदायिकता को नष्ट करनेवाली भावनाओं की वृद्धि हुई है। लेकिन इसीलिए जनतन्त्र की विरोधी शक्तियाँ त्रस्त होकर अपने आखिरी हमले की तैयारी भी कर रही हैं। इस हमले

की तरफ से बेखबर होना जनतंत्र की सेवा करना नहीं, उसके साथ विश्वासघात करना है।

भाषा के क्षेत्र में इन पतनोन्मुख शक्तियों का नारा 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का है। इस तरह की संकीर्णता से हिन्दी का विकास और प्रसार नहीं हो सकता, उसका घोर अनिष्ट जरूर हो सकता है।

सम्मेलन के मंच से बार-बार यह समझाया जा रहा है कि हिन्दी की रक्षा का प्रश्न अब हिन्दुत्व की रक्षा का प्रश्न है। ऐसी साम्प्रदायिकता के बारे में किसी भी देश भक्त और जनवादी के दो मत नहीं हो सकते। यदि उसका विष कहीं भी फैल रहा है, तो उसकी तरफ साफ-साफ संकेत करना चाहिये और उसे निकाल बाहर करना चाहिये।

मनुष्य को मारने के लिए उसके वजन भर जहर की जरूरत नहीं होती, थोड़ा-सा ही उसके प्राणों के लिए काफी होता है। भदन्तजी मानते हैं—'देश के जीवन में जब साम्प्रदायिकता का विष व्याप गया है, तो सम्मेलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है।' क्या इतना जहर सम्मेलन के स्वास्थ्य को खत्म करने के लिए काफी नहीं है? यह बेफिक्री, यह आत्मसन्तोष, साम्प्रदायिकता का सबसे खतरनाक समर्थन है।

भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता तरह-तरह के रूप धर कर आती है। उसका सच्चा रूप यह है कि धर्म के आधार पर देश का बँटवारा होने से इसी आधार पर भाषा का बँटवारा भी हो जाना चाहिये। इसलिए यह माँग की जाती है कि हिन्दी से चुन-चुनकर प्रचलित 'उर्दू' शब्द निकाले जायँ।

अभी हाल में नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने श्री रविशंकर शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी वालो, सावधान!' प्रकाशित की है। उसमें पचीसों ऐसे शब्दों की सूचना दी गयी है जो रोज के व्यवहार में आते हैं, लेकिन जिनसे हिन्दी को शुद्ध करने का तकाजा किया गया है। श्री रवि-

झुकर प्रचलित भाषा को कोई कसौटी नही मानते। उनकी कसौटी हिन्दुत्व है। मानना होगा कि नागरी प्रचारिणी सभा एक जिम्मेदार सस्था रही है और जब वह ऐसी पुस्तक प्रकाशित करती है तो उसे हम अपवाद समझकर टाल नहीं सकते।

सस्कृत को जनता की भाषा का रूप छोड़े हुए सैकडो वर्ष बीत गये, लेकिन कुछ अक्ल के दुश्मन अब भी उसे राष्ट्रभाषा बनाने का सपना देख रहे हैं। अगर कुछ अनोखापन न हुआ तो फिर भारतीयता किस बात में? दुनिया की तमाम भाषाओ का विकास क्लासिकल भाषाओं का सहारा लेते हुए भी जनसाधारण की भाषा के ही रूप मे हुआ है। लेकिन यहाँ के भारतीयता-प्रेमी सहारा लेने के बदले एक प्राचीन भाषा को ही राष्ट्रभाषा का रूप देने की कोशिश में लगे हैं।

कुछ दूसरे लोग जो इस कार्य को असम्भव समझते हैं, यह नहीं कहते कि सस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया जाय, वे इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि सस्कृत राष्ट्रभाषा अब नही रही, इसलिए चाहिए यह कि आज की भाषा को जहाँ तक हो सके, हम सस्कृत के निकट ले जायँ। पडित अमरनाथ झा, हैदराबाद मे भारत के एजेन्ट-जेनरल श्री मुशी आदि का यही तर्क है। यह धारणा हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाओं में सहज विकास की उपेक्षा करती है। भाषा को लोक-प्रिय रूप देने के बदले ऐसे लोग उसे सस्कृत-गर्भित बनाकर कुछ थोड़े से पडितो तक उसे सीमित कर देना चाहते हैं।

हिन्दी के लिए खतरा यही है कि वह प्राचीनता के अधप्रेम में अपने स्वाभाविक बोल-चाल के आधार से अलग की जा रही है। बार-बार यह घोषित करने के बदले कि सस्कृत-गर्भित होने से भाषा ज्यादा समझी जाती है, हमें उसके सहज हिन्दी रूप की रक्षा करनी चाहिए।

जनसाधारण की भाषा की तरफ भदन्तजी का रवैया उलझन मे डालनेवाला है। वह उर्दू को चाहे एक बार राष्ट्रभाषा मान ले, लेकिन

इस प्रचलित भाषा को वह अपने पास भी फटकने देना नहीं चाहते ! कहते हैं—'मै सापेक्ष दृष्टि से उर्दू के राष्ट्रभाषा बन सकने मे विश्वास कर सकता हूँ, किन्तु उस राष्ट्रभाषा मे मेरी तनिक श्रद्धा नहीं—और मैं समझता हूँ कि डॉ० रामविलास जैसे विचारको की भी नही होनी चाहिए—जो 'यू० पी० के जनसाधारण की प्रचलित भाषा है।'

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग पहले इस बिना पर होती थी कि वह जनसाधारण की भाषा है और हिन्दुस्तान के ज्यादा से ज्यादा लोग उसे समझते हैं। लेकिन अब कुछ हिन्दी-पडितों का सस्कृत-प्रेम उन्हें इसके लिए मजबूर कर रहा है कि वे प्रचलित भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखें।

भले ही बोल-चाल की भाषा मे भदन्तजी की श्रद्धा न हो, मेरी तो है और मै समझता हूँ कि यह जनसाधारण की भाषा ही विकसित होकर निकट भविष्य में उन तमाम गुत्थियो को सुलझा देगी जिन्हें हिन्दी-उर्दू के प्रकाड विद्वान् बीस साल से उलझाते ही आये हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ से उर्दू के लिए बड़ी उदारता-पूर्वक कहा जाता है कि वह अलग भाषा नहीं है, बल्कि हिन्दी की शैली है। लेकिन व्यवहार में उसके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है जैसा शैली क्या सात समुन्दर पार को विदेशी भाषा के साथ भी नहीं किया जाता। उर्दू की तरह क्या हिन्दी भी जनता की प्रचलित भाषा की एक साहित्यिक शैली नहीं है ? अगर उर्दू जनसाधारण की भाषा से अलग जा पड़ती है तो अन्याय है, लेकिन अगर हिन्दी भी उससे उतनी ही दूर है, तो यह उसका गुण है !

अपने लेख के अन्त मे भदन्तजी ने कुछ शब्द चुनकर यह सिद्ध किया है कि 'इन और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करनेवाले डॉ० राम-विलास इन और ऐसे ही शब्दो का विरोध करते हैं।'

'नहीं, मै विरोध नहीं करता। मैने कही यह दावा नहीं किया कि

हिन्दी से सस्कृत शब्दो को निकाल बाहर करना चाहिये। लेकिन सस्कृत शब्दो को जरूरत के हिसाब से लेना एक बात है और यह कहना कि सस्कृत के शब्द ज्यादा लेने से भाषा [illegible] समझी जाती है, बिल्कुल दूसरी बात है।

भदन्तजी ने दूसरा सवाल यह किया है कि यू० पी० के जनसाधारण की भाषा वह कौन-सी है 'जो उनकी सम्मति मे राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।' निवेदन है कि प्रचलित भाषा आज की परिस्थिति मे केवल आधार हो सकती है, राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। [illegible] आधार को राष्ट्रभाषा मान बैठना निस्सन्देह भूल है, लेकिन यह फिर कहने की जरूरत है कि उस आधार को बार-बार भुलाया जा रहा है और भाषा को उसके नजदीक ले जाने के बदले सम्मेलन के कर्णधार उसे सस्कृत के अधिक से अधिक निकट ले जाने के लिए उत्सुक हैं।

उर्दू की शैली को भदन्तजी विदेशी कहते हैं। यदि जनता के अपने प्रयोग कोई कसौटी हैं, तो मानना होगा कि सस्कृत और फारसी की छूत-पाक प्रचलित भाषा मे नही चलती। जनता शब्दो को हिन्दू-मुसलमान समझ कर नही अपनाती, जो उसकी अपनी जातीयता के निकट होते हैं, उन्ही को वह अपनाती है और अक्सर उन्हे अपने रग मे रँग लेती है। सस्कृत-फारसी का देशी-विदेशीपन पडितो के समाज मे कायम है, लेकिन साधारण जनता ने अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार दोनो से शब्द लेकर यह झगडा खत्म कर दिया है। अगर प्रचलित भाषा मे दोनो के शब्द आते हैं, तो साहित्य की भाषा मे ही उनके मेल-जोल को कब तक रोका जा सकेगा?

भदन्तजी तो मानते हैं कि हिन्दी-उर्दू दो भाषायें नही हैं, उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है जो अपने विदेशीपन की वजह से हिन्दी से अलग जा पड़ी है। लेकिन इस बार साहित्य-सम्मेलन के सभापति राहुलजी ने दोनों को एक नहीं बल्कि अलग-अलग भाषायें मानकर कहा

है—'अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है ?' यह बात उन्होने इस सवाल का जवाब देते हुए कही है कि 'हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओं' को राष्ट्र-भाषा क्यो न मानना चाहिये। असलियत यह है कि हम अब उर्दू से कोई आदान-प्रदान नही करना चाहते, इसलिए कभी तो दूसरी शैली कहकर उसके विदेशीपन की बात करते है, कभी दूसरी भाषा कहकर उसका विरोध करते है।

राहुलजी हिन्दी के किस रूप को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं ? इस बारे मे पण्डित अमरनाथ झा और श्री कन्हैयालाल मानिकलाल मुशी के तर्क से राहुलजी का तर्क भिन्न नही है। वह भी चाहते हैं कि हिन्दी संस्कृत-गर्भित बने क्योंकि तभी वह सारे भारत मे समझी जायगी। उन्होने अपनी यात्रा और व्याख्यानो का उल्लेख करते हुए कहा है कि गुजराती, मराठी, उड़िया, बॅगला आदि भाषाओ के बोलने वाले उनकी हिन्दी अच्छी तरह समझ लेते थे, शर्त यह थी कि हिन्दी मे 'जब-तब आनेवाले अरबी, फारसी शब्दो की जगह तत्सम संस्कृत शब्दो का प्रयोग किया जाय।' इसका एक ही मतलब हो सकता है कि अगर हिन्दी को भारत के दूर-दूर भागों मे सुबोध बनाना है, तो उसमे से 'जब-तब आनेवाले' अरबी-फारसी के शब्दो को निकाल देना चाहिये और इनकी जगह 'तत्सम संस्कृत शब्दों' का प्रयोग करना चाहिये।

अभी तक हिन्दी और उर्दू के समर्थक अपनी-अपनी प्रिय भाषा को हिन्दू और मुसलमान दोनो की देन बताते थे। यह सही भी था। मध्यकालीन हिन्दी ही नहीं, आधुनिक हिन्दी के निर्माण मे भी मुसलमानों का हाथ रहा है। यह दो तरह से। जिस बोलचाल की भाषा को कवि और लेखक साहित्य मे सॅवारते हैं, उस बुनियादी भाषा को हिन्दू-मुस्लिम जनता ने मिल-जुलकर बनाया है। हमारी संस्कृति की तरह भाषा भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं बनी बल्कि सभी सम्प्रदायो और

धर्मों के लोगों ने मिलकर उसे बनाया है। इसके अलावा साहित्य के क्षेत्र मे भी, क्या हिन्दी मे और क्या उर्दू मे, हिन्दू और मुस्लिम साहित्यकारो का मेल-जोल बना रहा है। राहुलजी ने अपने भाषण में हिन्दी और उर्दू के भेद को हिन्दू धर्म और इस्लाम का भेद बना दिया है। इसीलिए उन्होंने 'इस्लाम को भारतीय बनना चाहिये'—यह मॉग पेश की है। इस्लाम को भारतीय बनाने की मॉग पेश करना भाषा के क्षेत्र मे कर्म के महत्व को स्वीकार करना है। आगे चलकर राहुलजी यह भी कहते हैं कि 'धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेडना आज के ससार मे बरदाश्त नही किया जा सकता।' अगर यह बात सही है तो फिर भाषा की समस्या हल करने के लिए स्वय राहुलजी ने यह धर्म का प्रश्न क्यो उठाया ?

धर्म और अधविश्वास की भावनाओं का राष्ट्रीयकरण किसी हालत में भी समस्या का हल नहो हो सकता। जनतन्त्र के आन्दोलन के बढने से ही आम जनता यह समझने लगती है—और उसे यह समझाया जाना चाहिये—कि धर्म और अन्धविश्वासो के सहारे किस तरह जमीदार और पूॅजीपति उसका शोषण करते हैं और उसे भुलावे मे रखते हैं। जनतन्त्र का आन्दोलन चलाने के लिए यह जरूरी है कि हम भाषा के प्रश्न पर एक मत हो। अगर एक ही कारखाने मे काम करने वाले हिन्दू मुसलमान मजदूर, एक ही गॉव मे खेती करने वाले हिन्दू-मुसलमान किसान भाषा के झगडे से अलग-अलग होते है, तो इसका बहुत बड़ा असर जनतन्त्र के आन्दोलन पर भी पडता है। यह डर कोरी हवाई कल्पना नहीं है। हिन्दू-धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले और इस्लाम को भारत ही नही विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू-मुसलमान मजदूर किसानों मे भी फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं। जो भाषा सम्बन्धी भेद अभी उच्च और मध्य वर्गों तक सीमित था, वह धीरे-धीरे जन-

साधारण मे प्रवेश करता जा रहा है। यदि यही क्रम रहा तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मिलना तो दूर, इन दोनों राज्यों मे अलग-अलग भी जनतन्त्र के पनपने की सभावना कम होती जायगी।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की एकता के बारे मे राहुलजी कहते हैं, 'मेरी समझ में तो अभी बटे हुए हिन्दुस्तान की एकता की बात चलानी फिजूल ही नहीं, हानिकारक है।' यही बात ख्वाजा नजीमुद्दीन ने भी पूर्वी बङ्गाल मे एकता का आन्दोलन चलने पर कही थी।

राहुलजी के मुँह से इस तरह की पराजयवादी बाते यह सूचित करती हैं कि जनतन्त्र के आन्दोलन से उनकी आस्था उठ रही है। वह कहते हैं, 'हमारी पीढ़ी जो कर सकती थी, कर चुकी। एकता करने का काम अगली पीढ़ी का है, हमे इस एकता की बात करके उनके काम मे कठिनाइयाँ पैदा नहीं करनी चाहिये।'

इसका यही मतलब हुआ कि एकता और जनतन्त्र का आन्दोलन कल चले तो ठीक, आज चले तो गलत। देश की पूँजीवादी नेताशाही भी किसान-मजदूरों से यही कहती है—'कल हिन्दुस्तान मे जनतन्त्र भी होगा, समाजवाद भी होगा, लेकिन आज पूँजीपतियों के मुनाफे मे हाथ मत लगाओ।'

अगर कल यही काम करना है तो उसकी शुरुआत आज क्यों न की जाय?

साम्राज्यवाद के शासनकाल में जनतन्त्र का आन्दोलन बहुत धीमी गति से आगे बढा। गोरी शासन-व्यवस्था ने आम जनता को सस्कृति और साहित्य से दूर रखा। भारत की भाषाओं के विकास को रोकने मे उसने कुछ उठा नही रखा। अँगरेजों के आने के पहले भारत की जनता अलग-अलग भाषा-क्षेत्रो मे अपनी नयी सस्कृति लेकर उठने लगी थी। सामतकालीन राज्य ध्वस्त हो रहे थे और उनकी जगह बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि-आदि नये भाषाक्षेत्र उभर रहे थे। यदि अँगरेजी साम्राज्य-

वाद दखल न देता तो भारत की जातियाँ (नेशनैलिटी) ससार के अन्य महाद्वीपों की तरह यहाँ भी अपनी भाषा और साहित्य का विकास करतीं। अगरेजो ने सामतवाद को सुरक्षित रखा और हर जाति को देशी और विलायती शासन-व्यवस्था मे बॉट दिया। आन्ध्र-जाति निजाम की रियासत और मद्रास प्रात मे बॅट गयी। महाराष्ट्र के लोग कुछ बम्बई, कुछ बाकी रियासतों मे बॉट दिये गये। सामतवाद कहने को देशी था लेकिन वह भाषा और सस्कृति के लिए कम घातक नहीं था। राजस्थान की गौरवमय भूमि छोटी-बड़ी रियासतो मे बॉटकर रखी गयी। अँगरेजो की कठपुतली इन देशी राजाओ ने राणाप्रताप का नाम ले-लेकर अपनी गद्दी सुरक्षित रखी। भाषा और सस्कृति को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि राजस्थान मे आज भी अपनी भाषा की समस्या बनी हुई है। राजस्थानी बगला-मराठी के समान उन्नत भाषा नही बन पायी। यही देशी नरेश हिन्दी, उर्दू सस्कृत के रक्षक बनकर आज हमारे सामने आते हैं। निजाम हैदराबाद उर्दू के हिमायती हैं तो महाराज भरतपुर राष्ट्रभाषा हिन्दी के और महाराज अलवर सीधे सस्कृत के। अँगरेजों के ये पिट्ठू जनता का शोषण बराबर जारी रखे हुए हैं और भाषा और सस्कृति के मैदान में आकर उसी शोषित जनता को आपस मे लड़ाने की साजिशें करते हैं। भाषा के क्षेत्र में यह साम्राज्यवाद की विरासत है।

हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा भाषा-क्षेत्र खड़ी बोली का है। जब हिन्दी-उर्दू का आधुनिक रूप विकसित न हुआ था तब मुसलिम जनता की मिली-जुली बोली यही खडी बोली थी। प्राचीन गौरव की याद मे कुछ लोगो ने यह उचित समझा कि प्रचलित शब्द छोड़कर प्राचीन शब्दावली अपनायी जाय। इस तरह हिन्दी-उर्दू की शैली आवश्यकता से अधिक दूभर हुई। आवश्यकता से अधिक इसलिए कि सस्कृत या फारसी से शब्द लेना आवश्यक था। लेकिन प्रचलित शब्दों को छोड़कर उनकी जगह प्राचीनता के मोह मे तत्सम शब्द भरना आवश्यक नहीं था।

हिन्दी-उर्दू लेखको ने समालोचना, वैज्ञानिक साहित्य, दर्शन आदि के लिए फारसी और संस्कृत के शब्द लिये हैं, यह उचित किया है। लेकिन इन शब्दो का चुनाव भाषा की प्रकृति, जनता की रुचि और सुबोधता का ख्याल करके हमेशा नहीं हुआ। साम्राज्यवाद ने जनता को संस्कृति और शिक्षा से जिस तरह दूर रखा है, उससे जनता को यह मौका नहीं मिला कि वह प्रचलित-भाषा की नीति साहित्य की भाषा पर लागू कर सके। हिन्दी और उर्दू की साहित्यिक शैली मे जो बहुत बड़ा अन्तर आज दिखायी देता है, वह कुछ दिन बाद जरूर खत्म होगा। लेकिन इस तरह नहीं जैसे भदन्तजी सोचते हैं कि उर्दू अपने 'अतिरिक्त विदेशीपन' को छोड़कर हिन्दी का वर्तमान रूप धारण कर लेगी या जैसे कुछ उर्दू प्रेमी समझते हैं कि हिन्दी अपना वर्तमान रूप छोडकर उर्दू का रूप धारण कर लेगी। जब हमारा साहित्य जनता तक पहुँचेगा तब इन दोनो शैलियो के बहुत-से शब्द लिये जायँगे, बहुत-से छोड़ दिये जायँगे। आज तो फारसी और संस्कृत को हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड़ दिया गया है। इसलिए हम इनमे से एक ही सहारा लेकर भाषा को समृद्ध करना चाहते हैं। साहित्य का वह अंग जो आम जनता की सम्पत्ति बन गया है, इस छूत-पाक को स्वीकार नहीं करता। उस मिली-जुली निधि मे जनपदीय बोलियो के गीत, किसान-मजदूरों मे किये जाने-वाले नाटक आदि शामिल हैं। इसके अलावा देवनागरी और फारसी दोनो ही लिपियो मे ऐसी सैकड़ों कहानियाँ और गीत लिखे गये हैं जो हिन्दू-मुसलिम जनता की मिली-जुली सम्पत्ति है। यह नियम शिक्षा के प्रसार के साथ उस साहित्य पर भी लागू होगा जो अभी जनसाधारण तक नहीं पहुँच पाया। भाषा की समस्या का आखिरी फैसला तभी होगा।

राष्ट्र भाषा हिंदी और हिन्दू राष्ट्रवाद

हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने की माँग कुछ नयी नही है। भारतेन्दु से लेकर अब तक इस माँग का आधार यही रहा है कि हिन्दी जनता की भाषा है, बोलने, लिखने और समझने मे वह सरल है, हिन्दुस्तान की अधिकाश जनता अभी भी उसे बोलती और समझती है। अपनी माँग को पुष्ट करने के लिए हिन्दी भाषियो ने जनता को अपनी कसौटी बनाया था। उन्होने राष्ट्रभाषा की समस्या को जनतान्त्रिक ढग से ही सुलझाने का प्रयत्न किया था। लेकिन इधर कुछ वर्षों से यह परिस्थिति बदल रही है। साहित्य-सम्मेलन के मच से हिन्दी-हिन्दुस्तान का नारा लगाकर अपनी भाषा के प्रसार को सकुचित करने और उसके सहज विकास को रोकने का प्रयास किया गया है। एक तरफ तो हम गर्व के साथ कहते रहे हैं कि हिन्दी आम जनता की भाषा है जिसके बोलने वाले सभी जातियो और धर्मों के लोग हैं। दूसरी तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने वाला यह नया हिन्दू राष्ट्रवादी दल भाषा को धर्म के साथ जोड कर हिन्दी को जनता की भाषा के पद से हटा देना चाहता है। ऊपर से देखने मे मालूम होता है कि ये हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दी के समर्थक हैं, जो उसका प्रसार और विकास चाहते हैं, वास्तव मे इनसे बड़ा शत्रु हिन्दी का कोई दूसरा नहीं हो सकता। राष्ट्रो की तरह भाषा का विकास भी जनतान्त्रिक आधार पर होता है, जनता की उपेक्षा करके फासिज्म को आधार बनाने पर राष्ट्र की तरह भाषा का भी सत्यानाश होना अनिवार्य है। हिन्दी का सत्यानाश करना तो विधाता के लिए भी कठिन होगा। विधाता की इच्छाओं के एक मात्र टीकाकार ये हिन्दू-राष्ट्रवादी उसके विकास में कुछ देर के लिए बाधा जरूर डाल सकते हैं।

राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दू राष्ट्रवाद के गठबन्धन की सबसे ताज़ी मिसाल श्रीरविशङ्कर शुक्ल की लिखी हुई एक पुस्तक है जिसका नाम है—'हिन्दी वालो, सावधान !' 'इस्लाम खतरे मे है'•की तरह लेखक ने हिन्दू-धर्म खतरे मे है, कहकर हिन्दी वालो को सावधान करने की चेष्टा की है। जहाँ-जहाँ 'इस्लाम खतरे मे है' का नारा लगाया गया है, वहाँ-वहाँ साबित हो चुका है कि इस्लाम के बदले किसी की जमीन-जायदाद ही खतरे मे थी जिसे बचाने के लिए यह खतरे की घटी बजाई गई थी। इस बहाने जायदाद की हिफाजत हो नही पाती और जनता इस ठग-विद्या की पहचान कर जायदाद को जब्त करके ही दम लेती है। लेखक ने इतिहास की साक्षी न मान कर खुले आम धर्मान्धता को आदर्श मान-कर उसके पीछे चलने की सिफारिश की है। प्रत्येक हिन्दू राष्ट्रवादी ऊपर से जिन्ना का विरोधी होते हुए भी हृदय से उन्हीं को अपना आदर्श मानता है। कॉंग्रेस और देश के स्वाधीनता सग्राम के बारे मे वह लीग के प्रतिक्रियावादी नेताओ के समान ही झूठा प्रचार करता है। रविशङ्कर शुक्ल का अभियोग है कि काग्रेस ने हिन्दुओ के साथ 'घोर विश्वास-घात किया है।' (हिन्दी वालो, सावधान, परिशिष्ट, पृ० ६७)। हिन्दुओ का विश्वासपात्र तो कोई हिन्दू जिन्ना ही हो सकता था लेकिन लेखक के दुर्भाग्य से 'हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नहीं है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके।' (उप०) हिन्दुओ में ऐसा नेता पैदा करने के लिये जरूरी है कि हर हिन्दू के हृदय से राष्ट्रीयता की परपरा को निर्मूल कर दिया जाय। इसलिए काग्रेसी नेताओं के लिए लेखक ने यह दावा किया है कि उन्होने 'जन्म भर मनसा, वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, और अब भी कर रहे हैं, कि वे हिन्दू नहीं हैं।' (उप०) काग्रेस पर अहिन्दू होने के अभियोग लगाने का एक मात्र उद्देश्य यह है कि काग्रेस की प्रेरणा से जो जनवादी परम्परा कायम हुई है, उससे निहित स्वार्थों की रक्षा की जाय। इस हिन्दू प्रेम के पीछे पूँजीवाद और जमीं-

दारी प्रथा का प्रेम छिपा हुआ है जो लेखक से इस तरह की दलीलें पेश कराता है—प० नेहरू को हिन्दुस्तान के नाम से चिढ है क्योंकि उसमे हिन्दू नाम जुडा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि देश को 'इडिया' ही कहा जाय और इस मामले मे गाधीजी भी 'उनकी पीठ थपथपा रहे हैं।' (परिशिष्ट, पृ० ६८)। प० नेहरू के भाषणो को जनता भी सुनती है और वह अच्छी तरह जानती है कि वे इडिया शब्द का प्रयोग करते हैं या हिन्दुस्तान का। लेकिन फासिज्म का आधार झूठ होता है और हिन्दू राष्ट्रवाद एक फासिस्ट विचारधारा है।

हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी एक दूसरे के कितने निकट हैं, इसकी एक मिसाल देखिये। दोनो ही नेहरू-सरकार की एक हिन्दू सप्रदाय-वादी सरकार के रूप मे कल्पना करते है। फर्क इतना ही है कि मुस्लिम प्रतिक्रियावादी उसे हिन्दू सरकार पहले से ही मानते हैं और उनके हिन्दू भाई उसे ऐसी बनाना चाहते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि 'हमारा ससार नेहरू सरकार को हिन्दू सरकार बताता और समझता है—जब कि वास्तव मे अर्थात् असल मे वह हिन्दू सरकार नही है। ऐसी भ्राति का कारण नहीं रहने या भविष्य मे उत्पन्न होने दिया जा सकता।' (उप०) सारे ससार मे चर्चिल और उनके पिट्ठू ही ऐसा प्रचार करते हैं और बी० बी० सी० दुनियाँ भर में विज्ञापित करती है कि प० नेहरू की हिन्दू सरकार मुसलमानो का नाश कर देना चाहती है। लेकिन ससार मे सब चर्चिल, फीरोजखाँ नून या उनके हिन्दू नक्काल (रविशङ्कर शुक्ल जैसे) ही नही हैं। दुनियाँ का हर जनतत्रवादी न तो नेहरू सरकार को एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार मानता है और न उसे होने देना चाहता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की खुली घोषणा इस प्रकार है।

'हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राजधर्म हिन्दूधर्म हो और जिसमे सब प्रमुख पदो पर हिन्दुओ और अमुस्लिमो की नियुक्ति हो। ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म न मानता हो, हिन्दुस्तान-

सरकार का प्रधान नही हो सकता।' (उप०) स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म मानने का मतलब क्या है ? यह कि जो मुसलमानो को हिन्दुस्तान मे रहने दे, वह पूरा हिन्दू नहीं है। 'इस्लाम धर्म के किसी अनुयाई को हिन्दुस्तान मे नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते' और 'अल्प-सख्यक के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कालम को स्वच्छन्द नहीं छोडा जा सकता।' (पृ० ६६) यह है सच्चे हिन्दूपन की कसौटी ! अगर लीगी नीति धर्मान्ध है तो क्या हम नही हो सकते ? अगर वह एक बार कुएँ में गिरे हैं तो हम सौ बार गिरेंगे ! हिन्दू राष्ट्रवाद की वीरता इसी प्रकार की है।

इस हिन्दू राष्ट्रवाद को भाषा के क्षेत्र मे लागू करना मुश्किल नहीं है। जैसे हिन्दुस्तान का हर मुसलमान पाकिस्तान का फिफ्थ कालम है, वैसे ही हिन्दी में आया हुआ अरबी-फारसी का हर शब्द फिफ्थ कालम है, जिसे निकाल बाहर करना चाहिये। बात कुछ बहुत मौलिक नहीं है क्योकि मराठी में वीर सावरकर भी यह काम कर चुके हैं। उन्हें सफलता कितनी मिली है, यह मराठी का कोई अखबार उठाकर देख लीजिये।

कठिनाई तब पैदा होती है जब जनता के व्यवहार का प्रश्न सामने आ जाता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों के दुर्भाग्य से इस देश की जनता हिंदू-मुसलमान शब्दों की पहचान नहीं कर पाती। फल यह होता है कि इस जनता से प्रेरणा पाने वाले कवि और लेखक भी हिन्दू-मुस्लिम शब्दो का भेदभाव भूल जाते हैं। इसलिये हिन्दू राष्ट्रवाद के इन आचार्य ने जनता का झगड़ा ही खत्म कर दिया है। आपने लिखा है—'जनता तो भेड़ों के झुड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी।

जनता की पेट भर खाने और तन भर कपड़े के सिवा किसी और चीज़ की चिन्ता नहीं होती।' (मूल पुस्तक—पृ० ८५)।

यह तर्क भी अधिक मौलिक नहीं है। जब हिन्दुस्तान में आजादी का आन्दोलन चला, तब अँग्रेज साम्राज्यवादियों ने भी यही दलील पेश

की थी कि हिन्दुस्तान की आम जनता को तो खाने-पहनने से मतलब है, कुछ थोड़े से असन्तुष्ट लोगो ने उसे आजादी का नाम लेना सिखा दिया है। अगर उन्हें पकड़ कर जेल मे बन्द कर दिया जाय तो वह आजादी का हल्ला भी एक दिन में खत्म हो जायगा इस विचार के अनुसार जनता को भेड और अपने को भेड़िया समझने वालो ने काम भी किया लेकिन उसका फल क्या हुआ, इसे सारी दुनिया जानती है। श्रीमान् रविशङ्कर शुक्ल जनता को 'लैंगुएज काशस' करने के फेर मे स्वय जनता की शक्ति से 'अनकाशस' हो गये हैं! लेकिन अँगरेज बहादुर की शक्ति पर आप का विश्वास अडिग है! भारतीय जनता तो अपनी भाषा के प्रति कभी जागरूक नहीं रही लेकिन 'भला हो अँगरेज बहादुर का जिसने फारसी को हटा कर प्रान्तीय भाषाओ को प्रतिष्ठित किया (पृ० ५८)। गोया लार्ड मैकाले ने हिन्दी का सर्वनाश करने के लिये कुछ उठा रखा था। और उनकी चलाई हुई शिक्षा प्रणाली के लिये हिन्दुस्तानियो को उनका कृतज्ञ होना चाहिये! अपनी जनता को गाली कि वह भेड़ है और अँगरेज के लिये शाबाशी कि वह इन्साफपसन्द है—यह है हिन्दू राष्ट्र-वाद का सच्चा रूप!

हिन्दी भाषी जनता को भेड़ियाधसान बना कर इस लेखक ने हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों को भी उसमें शामिल कर लिया है। यह हिंदी के लिये गर्व की बात है कि उसके बड़े-बड़े साहित्यकारो ने बोल-चाल की भाषा को अपना आधार बनाया है। रविशङ्कर शुक्ल की समझ में इस बोल-चाल की भाषा को अपनाने का मतलब है उर्दू कोष को अप-नाना। लिखा है—'उर्दू कोष केवल हिन्दी शब्द सागर मे ही नहीं समाया हुआ है, वह व्यवहार में भी बहुत हद तक हिन्दी पत्रो और पुस्तकों के पन्नों पर विद्यमान है, और हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिको की बोलचाल में भी विद्यमान है, बल्कि यो कहिये, बोलचाल मे और भी अधिक प्रबल रूप से विद्यमान है।' (पृ० ३)। इस बोलचाल के

खतरे से बचने के लिये आपने यह बाबा वाक्य प्रमाण रूप मे रखा है—'कण्ठगतऽपि प्राणे यावनी न वदेत।' और टीका की है—'सस्कृत की इस अखण्ड पीढी मे आज हिन्दी है। आज हिन्दी को वही काम करना है जो सस्कृत ने, पाली ने और अपभ्रश ने किया है।' (पृ० ६)। सस्कृत की अखण्डता से अपभ्र श कैसे पैदा हो गई, अपने अद्भुत भाषा-विज्ञान का प्रकाश इस प्रश्न पर भी डाल देते तो हिन्दी वाले और सावधान हो जाते।

लेखक को हर जगह हिन्दी हारती हुई और उर्दू जीतती हुई दिखाई देती है। उर्दू की जीत का कारण उसका विशुद्धतावाद यानी हिन्दी शब्दो के बहिष्कार की प्रवृत्ति बताई गई है। अब उस विशुद्धतावाद को हिन्दी में लागू करने का हठ किया गया है। वास्तव में हार न हिन्दी रही है, न उर्दू, उर्दू हार रहे हैं दोनों तरफ के विशुद्धतावादी जो दोनों को बोलचाल के ८०, फीसदी शब्दो के आधार पर नजदीक आते देख कर हाय-हाय करके छाती पीट रहे हैं। उनका यह काम उचित भी है क्योंकि दोनों के पास आने को वह बिल्कुल नहीं रोक पाते! लेखक ने कई जगह ऐसे शब्दों की सूची बनाई है जिन्हें वह हिन्दी से निकाल देना चाहता है। (पृ० २२-२३) पर ऐसे शब्दों की सूची देखने लायक है। इसमें तलाश सूराख, वजन, शोरगुल, पैदावार, दाग, दर्द, रोशनी, हजम करना, सख्त, नजदीक, मेहमान, कमरबन्द, बीबी, दिल, किताब, अन्दर, तरफ, इन्कार, खरीदना, आवाज देना, खून जैसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दू सस्कृति के लिये घातक बताया गया है। पाठक स्वय सोचें कि हिन्दी भाषा को इन शब्दो से खतरा है या रविशङ्कर शुक्ल जैसे उसके समर्थकों से।

इन शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची तो और भी मनोहर हैं! किताब के लिये केवल 'पोथी' लिखना चाहिये और बीबी के लिये 'बहू!' आपने शब्द-शास्त्र के साथ-साथ सामाजिक आचार-शास्त्र भी बदल दिया है

और ससुर-बहू के सम्बन्ध को पति-पत्नी के सम्बन्ध का दर्जा दे दिया है।

हिन्दी वालों को सावधान करने वाले इन सज्जन से अगर कोई पूछे कि क्या आपने यह 'पोथी' अफीम खाकर लिखी थी तो कोई बेजा सवाल न होगा। ऐसे एक दो नहीं पचीसो शब्द है जिन्हें आपने हिंदी से निकालने की सलाह दी है लेकिन जो दूसरी जगह आपके 'लैंगुएज काशस' दिमाग पर भी सवार हो गये हैं। मिसाल के लिये पृ० ३३ पर आप 'किला' शब्द निकाल देने की सलाह देते हैं लेकिन पृ० १५६ पर हिन्दी शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये 'किले' की ही शरण ले बैठे हैं।

इस सूची मे आपने 'बच्चा' शब्द भी रखा है जिसे हिन्दी से आप विदेशी समझ कर निकलना चाहते हैं। पाठको को ऐसी अपार मूर्खता पर विश्वास न हो तो इस पुस्तक के पृष्ठ ३४ की दूसरी लाइन देख लें। लेकिन वाह रे बच्चो शाबाश ! पृ० १७६ पर जब लेखक महाशय हिंदी रक्षा-सघ स्थापित करने में लगे थे, तभी आठवी पक्ति में तुम भी आ कूदे ('हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को · ' इत्यादि।) इसी तरह 'आबादी' का आप विरोध करते हैं लेकिन पृष्ठ २५ पर अवध को 'आबाद' करते हैं। आदत आपको पसन्द नहीं लेकिन पृष्ठ २७ पर आप खुद उसके 'आदी' दिखाई देते हैं। जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले और वह आपके ही नही हिन्दी-उर्दू दोनों के विशुद्धतावादियों के सिर पर चढ कर बोलता है। जितना ही बोलचाल के शब्दों से पर झाड़ते हैं, उतना ही वे चिपकते जाते हैं।

पृ० ४०-४१ पर एक दूसरी सूची है, उन शब्दों की जो बोलचाल में प्रचलित नहीं है। इनमें बगावत, कुर्बानी, गद्दार, हिमायत, उस्ताद, हमदर्दी, नाराज, नाखुश, सर्दी जैसे शब्द भी है। पूछना चाहिये कि आप किस देश के रहने वाले हैं जो इन शब्दो को बोलचाल का नहीं समझते।

आपका दुराग्रह कितना बढ़ा हुआ है, यह इस बात से जाहिर है कि आपने 'देशदूत' जैसे पत्र और बेढब बनारसी जैसे लेखक को—जिन पर हिन्दी उर्दू के मामले में उदार होने का कलंक कभी नहीं लगाया जा सकता—उन्हें भी उर्दू परस्तों की पाँति में बिठा दिया है !

आप पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया जायगा, यह आप पहले से ही जानते हैं। इसलिये पृ० ८३ पर आपने गर्व से घोषणा की है—'हमें एक बार नहीं सौ बार प्रतिक्रियावादी कहलाना स्वीकार है।' उसके बाद यह भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि 'ये सब बातें पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित हैं।' (उप०) बोलचाल के शब्दों के आने से आप भाषा को कृत्रिम मानते हैं, अधिक संस्कृत-निष्ठ होने से हिन्दी स्वाभाविक हो जायगी ! (पृ० ८८-८९)

एक सुझाव मार्के का है। अगले प्रान्तीय चुनाव के लिए हिन्दी जनता को अभी से तैयार करना चाहिये ! (पृ० १७६)। राष्ट्रीय मुसलमानों और कांग्रेस के नेताओं पर यह विषवमन उस चुनाव की तैयारी का ही एक अंग है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो देश को जनतन्त्र की तरफ बढ़ने से रोक कर साम्राज्यवाद की पाली-पोसी हुई व्यवस्था कायम रखना चाहते हैं। इनके प्रचार में एक ऐसी हिन्दी को स्थान दिया गया है जिसका भारत की जनता से यथासम्भव कम सम्बन्ध है ! जितना सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद का हिन्दू जनता से है, उतना ही हिन्दी के इन समर्थकों का हिन्दी से। कलम पकड़ते चार दिन नहीं हुये कि तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द—सभी की परम्पराएँ उलटने को तैयार हैं। मानों ईश्वर के यहाँ से हिन्दी की जायदाद का बैनामा करा के लौटे हैं ! हिन्दी के उस एक बड़े लेखक का नाम बताइये जिसने इन सिद्धांतों को मान कर रचना की हो। भाषा के निर्माता कुछ अंधे प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकते। उसके निर्माता हिन्दुस्तान के करोड़ों किसान, मजदूर और साधारण लोग हैं जिनकी बोलचाल की भाषा से

आपको असली खतरा दिखाई देता है। हिन्दी बोलने वालों ने जिन शब्दो को अपना लिया है, उन्हे तमाम मुसलमानो को कत्ल करके भी हिंदी से नहीं निकाला जा सकता। यह सस्कृति की रामदुहाई जनता के भय से उत्पन्न हुई है क्योंकि एक बार अँग्रेजो से टक्कर लेने के बाद यह जनता उनके देसी नक्कालों से डर कर चुप रहने वाली नहीं है! जिस समय हिंदू-उर्दू के कथित हिमायती एक दूसरे को कोसते रहे हैं, उस समय यही जनता खेतों, खलिहानो और कारखानो में एक मिली-जुली भाषा गढती रही है जिसकी उपेक्षा करना दोनों मे से किसी एक के हिमायती के लिये भी सम्भव नहीं है। हिंदी अमर है, इसलिए कि वह अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता की सजीव भाषा है।

सोवियत संघ में भाषाओं की समस्या

सोवियत सघ एक बहुजातीय देश है। वहाँ पर इगलैण्ड या फ्रास की तरह एक भाषा बोलने वाले लोग नहीं रहते बल्कि हिन्दुस्तान की तरह कई भाषाएँ बोलने वाले, कई जातियो के लोग रहते हैं। सोवियत सघ ने उन तमाम समस्याओ का सामना किया है और उन्हें समाजवादी तरीके से हल किया है जिनसे मिलती-जुलती समस्याएँ हर बहुजातीय देश के सामने आती हैं और जिन्हें हल करना उसके लिए जरूरी होता है। सोवियत यूनियन का हम एक विशाल प्रयोगशाला के रूप में देखते हैं जहाँ मार्क्सवाद के विज्ञान ने पहली बार जातियो और वर्गों की टक्कर के बीच से जातियो के सामाजिक और सास्कृतिक विकास का रास्ता दिखाया।

सोवियत सघ के भाषा-सम्बन्धी प्रयोग उन तमाम देशों के लिए दिलचस्प हैं जो सामाजिक विकास की अलग-अलग मजिलों मे वहाँ से मिलती-जुलती समस्याओ का सामना कर रहे हैं।

सोवियत व्यवस्था कायम होने से पहले ज़ारशाही रूस मे भाषाओं की समस्या के रूप को, जारशाही रूस में जातियो के विकास की तरफ़, उनकी भाषा और सस्कृति के विकास की तरफ़, शासक वर्ग के रुख को, समझे बिना हम उस तबदीली को अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे जो सोवियत व्यवस्था कायम होने पर हुई।

ज़ारशाही रूस इङ्गलैण्ड और फ्रास की तरह एक जातीय राष्ट्र नहीं था। उसमें एक ही भाषा बोलने वालों के बदले कई भाषाएँ बोलने वाले कई जातियों के लोग बसते थे।

इसका सबब क्या था ? जारशाही रूस इगलैंड और फ्रास की तरह एक जातीय राष्ट्र क्यो नहीं बना ?

स्तालिन ने अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और जातियों का सवाल' के दूसरे अध्याय मे इसका जवाब दिया है। उन्होने बताया है कि सामन्त शाही के खात्मे के वक्त जब पूँजीवाद का विकास शुरू हुआ, तब जनता के कई गुटो के मिलने से जातियों के बनने का सिलसिला भी शुरू हुआ। जब ब्रिटेन, फ्रास और इटली मे पूँजीवाद सामन्तशाही पर विजयी हुआ, तब कई गुटो का अलगाव दूर होकर वहाँ एक ही जाति का, राष्ट्र का, गठन भी हुआ। इन गुटो की बोली-बानी मिलती-जुलती थी। वे एक ही प्रदेश में बसते थे। पूँजीवाद ने उनको एक से आर्थिक सम्बन्धो मे बाँध कर उन्हें एक जाति (नेशन) का रूप दे दिया था जिसकी एक भाषा और एक सस्कृति थी।

पूर्वी यूरोप मे नये राष्ट्रो का विकास दूसरे ढङ्ग से हुआ। आस्ट्रिया के राज्य मे कई जातियाँ बसती थी। इनमे राजनीतिक रूप से जर्मन लोग सबसे आगे बढे हुए थे। उन्होंने कई जातियों को समेट कर यह राज्य बनाया। इसी तरह हगरी मे मग्यार लोग आगे बढे हुए थे। उन्होने हगरी मे एकता कायम की। रूस में रूसी जाति आगे बढी हुई थी। वहाँ उसने अपना सिक्का जमा लिया।

इन देशो में कई जातियो के लोग रहते थे। जिस जाति मे पूँजीवादी विकास पहले हुआ, उसने दूसरी जातियो को दबा लिया। ये दबाई हुई जातियाँ अपनी सामती व्यवस्था की वजह से तुरन्त पूँजीवादी विकास के मैदान मे न आ सकी। इस तरह जारशाही जैसे देश बहुजातीय राष्ट्र बने जहाँ एक जाति दूसरी पिछड़ी हुई जातियों को दबाती थी।

स्तालिन ने लिखा है :—

'राज्यो को बनाने का यह विचित्र ढग वही लागू हुआ जहाँ अभी सामतशाही का पूरी तरह खात्मा नहीं हुआ था, जहाँ पूँजीवाद का विकास

कमजोर था, जहाँ पर पीछे ठेली हुई जातियाँ अभी आर्थिक रूप से सुसबद्ध जातियो के रूप मे सुगठित न हुई थी।' (मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृ० २३)

जब पीछे ठेली हुई जातियो मे पूँजीवादी विकास शुरू हुआ, तब उनका भी जाति के रूप मे गठन होने लगा और उनके अन्दर जातीय भावना पैदा हुई। व्यापार और आवाजाही के साधन बढे, नये शहर आबाद हुए। जातियो का आर्थिक गठन हुआ और इस प्रकार पूँजीवाद ने इन पीछे ठेली हुई जातियो मे जिन्दगी की नयी हरकतें पैदा कीं। प्रेस, थियेटर और दूमा (रूसी पार्लियामेंट) की वजह से जातीय भावना दृढ़ हुई। इनमे जो बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हुआ, उसमे यह जातीय भावना भरी हुई थी।

लेकिन पूँजीवादी विकास के मैदान मे पीछे रहने वाली ये जातियाँ अब अपने अलग राज्य न बना सकीं। स्तालिन ने बताया है :

'लेकिन जो जातियाँ पीछे ठेल दी गईं थीं और जिनमे अब स्वाधीन जीवन फूट रहा था, आजाद जातीय राज्यो के रूप मे अपना निर्माण न कर सकी। उन्हे अपने पर हावी हाने वाली जातियो के जबर्दस्त विरोध का सामना करना पड़ा। ये हावी होने वाली जातियाँ बहुत पहले राज्य-सत्ता पर कब्जा कर चुकी थी और उनके मुकाबले मे दूसरी जातियाँ बहुत पिछड़ी रह गईं थीं।' (उप० पृ० २३)

इस तरह जारशाही रूस मे लेत, लिथुआनी, उक्रैनी, जार्जियन, आर्मीनियन आदि जातियो का गठन तो हुआ, लेकिन उन्हें अपने स्वाधीन राज्य बनाने का अवसर न मिला। जारशाही रूस के इस ऊँचे-नीचे पूँजीवादी विकास की खास परिस्थितियो में जातियो का सघर्ष शुरू हुआ।

जारशाही रूस में रहने वाली जातिओं का आर्थिक विकास आगे-पीछे हुआ। पीछे ठेली हुई जातियों में सामती व्यवस्था कायम रहने से

और पूँजीवादी विकास देर मे शुरू होने या न होने से वहाँ जातियो की समस्या पेचीदा रूप में उठ खड़ी हुई।

भाषाओ की समस्या इसी जातीय समस्या का एक अग थी। इस जातीय समस्या के कई पहलू थे। उनसे मिलते-जुलते भाषाओ की समस्या के भी कई पहलू थे। इनमे एक पहलू रूसी जाति और रूसी भाषा के विकास से भी सम्बन्धित था। देखना चाहिये कि जारशाही रूस मे स्वय रूसी भाषा को, विकास के लिए, क्या सहूलियतें मिली हुई थीं।

जारशाही रूस में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे हुआ। १८६० के पहले जारशाही रूस की समाज-व्यवस्था सामती थी। वहाँ के आर्थिक ढाचे में बड़ी-बड़ी जातियो की प्रधानता थी। किसानों को, जो देश की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा थे, दास-प्रथा का जुआ लादे हुए गुलामो की सी जिन्दगी बसर करनी पड़ती थीं। दासप्रथा की वजह से पैदावार कम होती थी और देश का औद्योगिक विकास भी रुका हुआ था। किसानो मे असन्तोष बढ रहा था और वे जहाँ-तहाँ विद्रोह करने लगे थे। १८६१ मे जार सरकार को मजबूर होकर दास प्रथा खत्म करनी पड़ी।

सावियत सङ्घ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास हमे बतलाता है कि दास प्रथा खत्म होने पर भी जमीदारो का जोर-जुल्म बन्द नही हुआ। किसानों को दो अरब रुबल अपने उद्धार की कीमत (मोआवजे के रूप में) अलग चुकानी पड़ी। 'आजाद' हुए इन किसानों को लगान की भारी रकमे अदा करनी पड़ती थी और जमीदारो के लिए भी अपने ही हल-माची से खेत जोतने-बोने पड़ते थे। आजाद होने पर भी इन किसानों की हालत करीब-करीब वही बनी रही जो दास प्रथा मे थी। सिर्फ जानवरा की तरह वे अब बेचे और खरीदे न जा सकते थे।

इस सामती व्यवस्था की वजह से रूस का औद्योगिक विकास रुका रहा। जब यह विकास शुरू हुआ तब भी रूस मुख्य रूप से खेतिहर देश

ही रहा और उद्योग-धन्धों मे वह दूसरे पूँजीवादी देशों से पीछे रहा। इस ऊँचे-नीचे और रुक-रुककर होने वाले सामाजिक विकास का असर रूसी भाषा के प्रसार पर भी हुआ।

जारशाही रूस ने आम रूसी जनता को शिक्षा से वंचित कर रक्खा था। १६१३ मे लेनिन ने लिखा था :—

'रूस की सामन्ती व्यवस्था ने ८० फी सदी नयी पीढ़ी को निरक्षरता के अन्धकार मे डाल रक्खा है।' (सोवियत लिटरेचर के नवम्बर '४७ के अक में 'सोवियत सस्कृति के ३० वर्ष' में उद्धृत)।

जारशाही रूस के एक मत्री ने फर्मान निकाला था :—

'बावर्चियो के बच्चे, खानसामाओं, छोटे दूकानदारों वगैरह के बच्चे न तो हाई स्कूलों में भर्ती किये जायँ, न कालेजों और ऊँचे शिक्षाकेन्द्रों मे।' (मौस्को न्यूज, २६ अक्तूबर '४७)। शिक्षा में वर्ग-हितो का ध्यान किस तरह रक्खा जाता था, इसके बारे में सोवियत सङ्घ के इतिहास में लिखा है :—

'१८२८ मे ऐसे स्कूली कायदे बनाये गये जो समाज में विद्यार्थी की हैसियत और दर्जे का खयाल रखें। यह बात कड़ाई से लागू की जाने लगी। देहात के पैरिश एलीमेंटरी स्कूल (पडिताऊ चटसार की तरह) सबसे नीचे के लोगो के लिए थे। जिला-स्कूल सौदागरों और दस्तकारो के बच्चों के लिए थे।

'यूनिवर्सिटियाँ और जिम्नेसियम सरदारों के बच्चो के लिए थे। तमाम शिक्षा सस्थाओं को प्राचीन धर्म, निरकुश राज्यसत्ता और राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के अनुकूल चलना पड़ता था। · जिम्नेसियम मे जो मुख्य विषय पढाये जाते थे, वे धर्म, ग्रीक और लैटिन थे। (हिस्ट्री आफ यू० एस० एस० आर०, भाग २, पृ० १५४)

१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे ईसाई पादरी पैरिश स्कूलों में गिरजाघर

वाली वह स्लाव भाषा पढ़ाते थे जिसे बच्चे बिल्कुल न समझ पाते थे। (उप० पृ० २६७)

इस तरह जारशाही ने भरसक कोशिश की कि आम जनता रूसी भाषा मे शिक्षा पाने से वंचित रहे।

रूसी अभिजात वर्ग की भाषा फ्रेंच थी। रूसी भाषा दासों और गॅवारों की भाषा समझी जाती थी जिसमें लिखना-बोलना सभ्य और शिक्षित आदमी की शान के खिलाफ था। बहुत-से साहित्यकार यह मान बैठे थे कि जाहिलों की इस जबान में उनके महान् भाव और ऊँचे विचार प्रकट ही नहीं किये जा सकते।

उच्चवर्गों के ये लोग फ्रासीसी दरबार और वहाँ की नजाकत-नफासत की तो नकल करते थे पर फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के असर से वे रूस को बराबर बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन रूस के जो जनवादी लेखक थे वे कोशिश करते थे कि फ्रास की क्रातिकारी विचारधारा का असर रूस पर पड़े, उसकी दरबारी सस्कृति और भाषा का असर कम हो।

१९वी सदी के रूसी साहित्य पर इस सघर्ष की छाप साफ दिखाई देती है। रूसी लेखको को अपने जनवादी विचारो के लिए ही नहीं बल्कि अपनी भाषा के लिए भी जारशाही रूस के खिलाफ सघर्ष करना पड़ा।

पुश्किन ने लिखा—'सौभाग्य से आम जनता अपने विचार फ्रेंच में प्रकट नहीं करती।'

यानी रूसी भाषा मे नाटक लिखने के लिए यह सौभाग्य की बात है कि आम जनता फ्रेंच नहीं बोलती। वर्ना रूसी भाषा में नाटक लिखे ही न जा सकते।

पुश्किन के व्यग्य से जाहिर है कि रूस का शासकवर्ग रूसी भाषा की कैसी उन्नति कर रहा था। पुश्किन और उनके साथियों ने रूसी जनता को नया साहित्य ही नहीं दिया, उन्हें नई भाषा भी दी।

रूसी आलोचक लियोनिद लियोनोव ने अपने एक लेख मे इस बात

का जिक्र किया है कि पुश्किन के साथी लेखक ग्रिबोयदेव की यह एक बहुत बड़ी विशेषता समझी जाती थी कि यह रूसी भी बोल लेता था।

लियोनोव के शब्दों में—

'अभिजात वर्ग के चार सौ घराने विदेशी भाषा ही बोलते थे जिससे मामूली आदमी उनकी बातें न समझ सकें।'

हिन्दुस्तान मे भी ऐसे लोगो की कमी नहीं है जो अपनी भाषा को इसके नाकाबिल समझते रहे हैं कि उसमे उनके ऊँचे विचार और महान् भाव प्रकट किये जा सकें। ये लोग अँगरेजी के जरिये 'मामूली' आदमियों पर अपनी शिक्षा और सस्कृति का रोब डालते रहे हैं।

लियोनोव ने लिखा है—

'अभी ऐसी आवाज न उठी थी जो सदियों की खामोशी के बाद रूस देश को और रूसी भाषा को जगा सके!' (लियोनिद लियोनोव, 'दि फेट आफ ए पोएट', वाक्स)

यह वह जमाना था जब कि पढे-लिखे लोग रूसी कहलाने में शर्माते थे। उन्हे डर था कि इससे लोग उन्हें अपढ और गॅवार रूसियो का भाई-बन्द न समझ लें।

रूसी नाटककार फौनविसिन ने अपने नाटक 'ब्रिगेडियर' (१७६८-६९) में रूसी रईसों की तस्वीरें खींची हैं। इसका नायक इवानूस्का रूसी मातृभूमि से उसी हद तक प्यार करता है जिस हद तक दासो के जरिये उसे अपनी रियासत से आमदनी होती है। इसके बाद वह फ्रासीसी कल्चर का उपासक है और उसकी दृष्टि में फ्रासीसी कल्चर के प्रतिनिधि फ्रास के दर्जी और नाई हैं।

इस अभिजात वर्ग के रूप मे पुश्किन और ग्रिबोयदोव ने, बेलिन्स्की और चर्निशेवस्की ने, लेनिन और गोर्की ने, रूसी भाषा और साहित्य का विकास किया जब कि जारशाही रूस ने प्रगतिशील बुद्धिजीवियों को बराबर दबाने की कोशिश की।

इस दमन का इतिहास बड़ा ही रोमाचकारी है। इस दमन का मुकाबला करके ही रूसी भाषा विश्व के सबसे प्रगतिशील साहित्य की भाषा बन सकी है।

जारशाही रूस ने जनवादी लेखको को देश निकाला दिया, उन्हें जेल मे डाला, उनकी किताबें छापने पर रोक लगाई और हर तरह से उनकी विचारधारा को दबा देने की कोशिश की। हर्जन को इगलैंड में रहकर अखबार निकालना पड़ा। वेलिन्स्की और चर्निशेवस्की ने साइ-बेरिया मे देश निकाले का द ड भोगा। लेनिन, स्तालिन, गोर्की—देश-विदेश मे राजनीतिक फरारों की जिंदगी बिताने पर मजबूर किये गये। रूसी साहित्य मे इनसे बड़े नाम और नही हैं जिन्होने रूसी साहित्य के साथ रूसी भाषा का विकास किया हो।

१६वीं सदी के जनवादी लेखकों ने फ्रैंच के बदले रूसी भाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा बनाया। लेकिन उनकी रूसी भाषा जनता की भाषा से काफी दूर थी। ये लेखक रोमाटिक आदर्शों पर जान देनेवाले लोग थे। जनता की जिदगी से वे अक्सर दूर होते थे। इसलिए उनकी भाषा और शैली भी जनता की भाषा और शैली से दूर होती थी।

लियोनोव ने उनकी इस खामी के बारे में लिखा है :—

'रोमाटिक आदर्शों ने इन उदारहृदय और बहादुर रूसियों को धरती से ऊपर उठा दिया था। इस तरह वे उस ताकत से हाथ धो बैठे थे जो धरती को छूने से दैत्य एन्टियस को मिली थी। उनके पास वह भाषा भी न थी जिसे जनता बोलती और समझती हो। वे सिपाहियो के लिये अपनी अपीलें इन शब्दो से शुरू करते थे—'हे सहदेशवासियो! मातृ-भूमि के उपासको! अभागों के प्रति सहानुभूति से द्रवित होने वालों!'—ये शब्द रूसी भाषा से न बनाये गये थे, वे जनता की भाषा से बहुत दूर थे।' (उप०)

इसके बाद लियोनोव ने ग्रिबोयदेव के पात्र चात्स्की की भाषा के

लिये लिखा है कि कल्पना कीजिये कि चात्स्की को हम सोवियत प्रचारक बनाकर किसी गाँव में बूढी दादियो से बातें करने भेज देते हैं। जाहिर है कि उसकी छायावादी शब्दावली से उनके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा।

जनवादी आन्दोलन के साथ-साथ रूसी साहित्य और भाषा का विकास हुआ। इस जनवादी आन्दोलन में रूस के किसानों और मजदूरो ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया। लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व मे बोलशेविक पार्टी ने जनवादी आन्दोलन को सगठित किया, उसे आगे बढाया और देश-विदेश के तमाम प्रतिक्रियावादियों को हराकर उसे आजादी और समाजवाद की मजिल तक पहुँचाया।

इसके प्रतिकूल जारशाही रूस मे रूसी भाषा को जनता की भाषा के रूप मे विकसित होने और अपना उचित स्थान पाने में तरह-तरह की अड़चनों का सामना करना पड़ा। इन तमाम अड़चनों को दूर करके जनता की भाषा के रूप मे अगर वह विकसित हो सकी और अपना उचित स्थान पा सकी तो इसका सबसे ज्यादा श्रेय उस समाजवादी क्रान्ति को है जिसने जनता को आजाद करके उसकी भाषा और सस्कृति के विकास को सुगम बना दिया।

जारशाही रूस की सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था जहाँ दूसरी जातियाँ और भाषाओं के विकास को रोकती थी, वहाँ एक हद तक वह अपनी जनता को अपढ और पिछड़ा हुआ रखकर, शिक्षा और सस्कृति से उसे दूर रखकर, विदेशी पूँजीपतियो और विदेशी भाषा की सेवा कर के स्वय रूसी जाति और रूसी भाषा के विकास को रोके हुए थी। ये रुकावटे जन आन्दोलन की प्रगति और समाजवादी क्रान्ति की सफलता से ही दूर हुई।

जारशाही रूस में गैर रूसी जातियाँ सामाजिक विकास की कई मजिलों से गुजर रही थीं। उनका आर्थिक, राजनीतिक, और सास्कृतिक

विकास एक जैसा न हुआ था। स्तालिन ने इनके चार मुख्य भेद किये हैं :—

पहले तो उक्रैन, बेलोरूसिया, अजरबैजान के एक हिस्से और आर्मीनिया के लोग थे जो कमोबेश औद्योगिक पूँजीवाद की मजिल से गुजर चुके थे।

दूसरे अजरबैजान, तुर्किस्तान, वोल्गा प्रदेश, क्राइमिया, बोखारा, खीवा, दागिस्तान आदि के लोग थे जो किसी एक प्रदेश में बस गये थे और उससे उनका लगाव पक्का हो गया था।

तीसरे किरगिज, बाश्किर, चेचेन, ओसेल्स, इगुश आदि लोग थे जिनकी जमीन पर रूसियों ने अपने उपनिवेश बना लिये थे और उन्हें रेगिस्तान मे खदेड दिया था।

चौथी तरह के लोग अल्पसख्यक जातीय गुटो के थे जो बड़ी जातियों के बीच इधर-उधर बिखरे पड़े थे। इनका वर्ग-ढाँचा निश्चित नहीं था और न अपना कोई प्रदेश था। इस तरह के लोगो मे लेत, एस्थोनिया, पोल, यहूदी वगैरह थे जो बडी जातियों के बीच मे छोटे-छोटे गुट बनाकर रहते थे।

स्तालिन ने बताया है कि जारशाही इन चारो तरह की जातियो और जातीय गुटो के साथ कैसा व्यवहार करती थी :—

'इन लोगों की तरह जारशाही की नीति, जमीदारो और पूँजीपतियो की नीति, यह थी कि उनके भीतर राष्ट्र निर्माण (स्टेटहुड) के हर तत्व को मिटा दे, उनकी सस्कृति का अग-भग कर दे, उनकी भाषा के व्यवहार पर रोक लगाये, उन्हें जहालत मे रखे और अत मे जहाँ तक हो सके, उनका रूसीकरण कर दे। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि इन लोगो के विकास का धरातल नीचा रहा और वे राजनीतिक रूप से पिछड़े रहे।' (स्तालिन—'मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वैश्चन, पृ० ६४)

किरगिज, बाश्किर आदि लोगो की जमीन पर रूसी कुलक (धनी

किसान) और कौसक बसाये जाते थे। जारशाही को उम्मीद थी कि ये लोग उसकी कीर्ति के समर्थक और एजेंट बनकर इन इलाकों मे रहेंगे। वहाँ के बाशिन्दे रेगिस्तान मे ठेल दिये गये। इनकी तरफ जारशाही की नीति यह थी कि उन्हें नेस्तनाबूद कर दिया जाय।

इसी तरह अल्पसंख्यक जातीय गुटों की तरफ भी जारशाही की नीति उन्हें नेस्तनाबूद करने की थी। इसके लिये बड़े-बड़े जन-संहारों की तैयारी की जाती थी। इनमें यहूदियों के जन-संहार मशहूर हैं।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास बतलाता है कि जारशाही रूस जातियों का कठघरा था। रूसियो को सिखाया जाता था कि वे गैर-रूसियों से नफरत करें। गैर-रूसी इलाकों मे सरकारी जगहे रूसियों को दी जाती थीं। सरकारी संस्थाओं और कचहरियो में सारा काम रूसी जबान मे होता था। गैर-रूसी जातियो को अपनी भाषा में शिक्षा पाने की, किताबे छापने और अखबार निकालने की, मनाही थी। इसके अलावा जार की यह नीति थी कि एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ भड़काया जाय। काकेशस प्रदेश में तातार और आर्मीनियन जातियो में झगड़े इतिहास मे मशहूर हैं।

बोल्शेविक पार्टी ने बिना अतिशयोक्ति के लिखा है :—

'जारशाही गैर-रूसी जातियों के लिये जल्लाद और हत्यारे जैसी थी।'

जल्लाद जारशाही ने गैर-रूसी जातियो की आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता को ही पैरों तले नहीं रौंदा, उसने उनकी भाषा और संस्कृति के विकास पर भी रोक लगाई। उसने उनका रूसीकरण किया या उनको नेस्तनाबूद करने की वह नीति बरती जो गोरे साम्राज्यवाद ने हर जगह आदिवासियों के खिलाफ बरती है।

गैर-रूसी जातियों में पहली किस्म उन जातियों की थी जो औद्योगिक

विकास की मंजिल से कमबेश गुजर चुकी थी। इन जातियों में एक उक्रैनी जाति भी थी।

जारशाही रूस में उक्रैनी भाषा के साथ, उस जाति के साथ जो सरहदी इलाकों के मुकाबले मे ज्यादा आगे बढी हुई थी, कैसा सलूक किया जाता था ?

नवम्बर १९४७ मे सोवियत राज्य की ३०वीं वर्षगाँठ पर १,२५, १४,८५१, उक्रैनियो ने अपने दस्तखत करके एक चिट्ठी स्तालिन को भेजी थी। उसमें उन्होंने जारशाही जुल्म का जिक्र किया था और यह वादा किया था कि वे जल्द से जल्द जर्मन हमले की बर्बादी दूर करके अपने प्रदेश को खुशहाल बनायेंगे। यह चिट्ठी कल-कारखानो, पचायती खेतों, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनो, स्कूलों और तमाम दूसरी संस्थाओं में पढ़ी गई थी और उस पर तमाम बहस और मुबाहिसे और नुकताचीनी के बाद यह चिट्ठी सवा करोड़ से ऊपर आदमियों के दस्तखत लेकर स्तालिन को भेजी गई।

इसमें कहा गया था '—

'जारशाही के दिनो में उक्रैन जुल्म और अत्याचार के नीचे तड़प रहा था। उक्रैनी सस्कृति, साहित्य और स्कूलों को निर्दयता से दबाया जाता था। जार के मत्रियों ने उक्रैनी भाषा पर बैन लगा दिया था। जाति की श्रेष्ठ सन्तान—क्रान्तिकारी समाजवाद के प्रतिनिधि—जेल और कालेपानी में जिन्दगी का बड़ा हिस्सा गुजार देते थे।'

जारशाही रूस ने उक्रैनी भाषा और सस्कृति की यह गत बना रक्खी थी। जार के मत्रियों ने उक्रैनी भाषा के व्यवहार पर बैन लगा रक्खा था। स्कूलों, कचहरियों और तमाम सरकारी सस्थाओं की जबान रूसी थी।

१८६३ की एक गश्ती चिट्ठी (सर्क्युलर) मे जार सरकार ने भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल के लिये उक्रैनी भाषा पर रोक लगा दी

थी। उसमे लिखा था—'देयर नैवर वाज, इज और विल बी ए मालोरशियन लैंगुएज।' [यू० एस० एस० आर का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ २६२]

उक्रैनी भाषा मे एक लोकप्रिय क्रातिकारी कवि हो गया है जिसका नाम था ताराशशेवचेंको। इस महान कवि के नाम पर आज के उक्रैन में पचीसों नाटकघर, स्कूलो, कालिजों वगैरह के नाम रखे गये हैं। पिछले महायुद्ध मे उक्रैनी गुरिल्लों ने अपना नाम शेवचेंको का दस्ता रक्खा था। इस तरह जर्मन विरोधी लड़ाई मे वे शेवचेंको के नाम से प्रेरणा पाते थे। जारशाही रूस ने इस महान कवि के साथ कैसा व्यवहार किया था? जारशाही ने उसे अपनी भाषा मे कविताऍं लिखने और उनका प्रचार करने की कौन सी सुविधाऍं दी थीं? ताराश शेवचेंको एक दास था। वह उन दासो मे था जो खरीदे और बेचे जा सकते थे। उसकी प्रतिभा पर मुग्ध होकर कुछ उदार रूसियों ने उसे दासता से छुड़ाया था। इसके लिये उसके मालिक जमींदार एगेलहार्ट ने ढाई हजार रूबल की ऊँची कीमत माँगी थी। यह कीमत देना आसान नहीं था। रूसी चित्रकार ब्रुइलोव ने अपना एक चित्र बेचकर यह रकम इकट्ठा की और शेवचेंको को दासता से छुड़ाया।

शेवचेंको ने अब 'आजाद' होकर कविताऍं लिखना और उन्हें किसानों को सुनाना शुरू किया। उसकी कविताऍं ज़ार की हुकूमत और किसानों को दास बनाकर रखने वाले जमींदारो के लिये चुनौती थीं। सोवियत लेखक ऐन० मौस्कोलेंको ने कविताओं को आदर्श जनवादी क्रान्तिकारी रचनाऍं कहा है। शेवचेंको की रचनाऍं जारशाही के लिए खतरा बन गईं। पुलिस शेवचेंको का पीछा करने लगी। आखिर वह पकड़ लिया गया। पुलिस ने कविताऍं पढी और तय किया गया कि शेवचेंकों ने उन्हें लिखकर मुजरिमाना हरकत की है।

शेवचेंको को कविता लिखने से रोक दिया गया और उसे एक फौजी

टुकड़ी मे काम करने दूर भेज दिया गया। शेवचेंको ने अपनी डायरी मे लिखा—'अगर मै कोई राक्षस या हत्यारा होता तो इससे सख्त सजा मुझे न दी जा सकती थी।' (उप०)

शेवचेंको पर सख्त पाबन्दी थी कि वह कविता न लिखे। मौस्कालेंको के शब्दों मे उसने अपनी जान को खतरे मे डालकर कविताएँ लिखी।

पुलिस को पता चल गया कि वह अब भी कविताएँ लिखता है। उन्होंने उसे जेल में डाल दिया। सात साल तक शेवचेंको जेल मे रहा, लेकिन वहाँ भी जारशाही उसकी कलम पर रोक न लगा सकी।

रूस के जनवादी बुद्धिजीवियो ने शेवचेंको को छुड़ाने के लिए बराबर प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप वह जेल से छुटा और दो साल तक बडी कशमकश के बाद उक्रैन लौटने की इजाजत भी मिली। शेवचेंको की कविताएँ लोग हाथ से लिखकर एक दूसरे को पढवाते थे। शेवचेंको ने उक्रैनी भाषा को कौन-सा रूप दिया? साहित्य में उसको किस तरह प्रतिष्ठित किया? मौस्कोलेंको ने लिखा है :—

'उक्रैनी भाषा की मिठास और ओज पहली बार शेवचेंको की रचनाओं में प्रकट हुए। वह उक्रैनी साहित्य की भाषा के पिता थे। उन्होंने बोलचाल की जबान के अगाध भडार को छाना था। उन्होंने उक्रैनी शब्दों के मधुर सगीत को पहचाना था।'

उक्रैनी भाषा और साहित्य के पिता शेवचेंको के साथ जारशाही ने कैसा सलूक किया? उनकी भाषा और साहित्य की सेवाओं का क्या बदला दिया?

जारशाही रूस ने अपने जुल्म और दमन से शेवचेंको की जान ले ली। मौस्कालेंको के शब्दों मे --

'उसके विद्रोही हृदय को न कुचल पाकर उसके दुश्मनों ने उसको शारीरिक रूप से खत्म कर दिया।'

उसके मरने के बाद भी उसकी क्रांतिकारी यादगार, उसकी जनवादी

कविताएँ, उसकी महान् प्रेरणा देने वाली जीवनकथा, ज़ारशाही के लिए भय का कारण बनी रही।

जार के सेंसर ने कोशिश की कि उसकी रचनाओं को मिटा दे। उसने शेवचेंको की पुस्तकें पढने की मनाही कर दी। जो लोग इस मनाही के खिलाफ काम करते थे, उन्हें सजा दी जाती थी। शेवचेंको उक्रैन की जनता और उसकी भाषा को हृदय से प्यार करता था। उसने लिखा था :—'इस दुनिया में दूसरा उक्रैन नहीं है, दूसरी नीपर नहीं है।'

जनता के इस सच्चे कवि ने उक्रैनी भाषा को साहित्य के सिंहासन पर बिठाया। जारशाही रूस ने उसकी परंपरा को कुचल देने मे कुछ उठा नहीं रक्खा। नये सोवियत समाज ने ही उस महान् परंपरा का आदर किया और उसे आगे बढाने में कुछ उठा नहीं रक्खा।

जब उक्रैनी जाति की भाषा का यह हाल था—उस जाति की भाषा का जो औद्योगिक विकास की मंजिल से गुजर चुकी थी—तब अन्य पिछड़ी हुई जातियो की भाषाओ का क्या हाल रहा होगा, यह सहज ही सोचा जा सकता है। जारशाही रूस मे करीब चालीस जातियाँ ऐसी थीं जिनकी अपनी लिपि थी ही नहीं। (मौस्को न्यूज, २६ अक्तूबर ४७)।

और जिनके पास अपनी लिपि तक नहीं थी, उन भाषाओं का क्या हाल रहा होगा इसका अन्दाज भी आसानी से लगाया जा सकता है।

समाजवादी क्रांति के बाद जब कुछ जातियों के पास यह हुक्मनामा पहुँचा कि अब वे आजाद हैं और अपनी भाषा में शिक्षा पा सकती हैं, तब उनमें एक भी पढ़ा-लिखा आदमी न मिला जो इस हुक्मनामे को पढ़ता और उसे अपनी जनता को समझाता।

उदमुर्त जाति के इलाके में खुदमुख्तारी का परवाना आया तो उसे कोई पढ़ने वाला न था। समूची जाति में फी सैकड़ा तीन-चार आदमी

पढ़े-लिखे थे और वे दूर कहीं शहरों मे रहते थे। (मौस्को न्यूज, ११ नवम्बर '४५)।

जारशाही रूस मे गैर-रूसी जातियों के लिए सिर्फ एक नाटकघर था, और वह भी आधा अमेचर था। (मौस्को न्यूज, ५ अक्तूबर '४६)

सोवियत तुर्कमीनिया के स्तालिन-प्राइज विजेता लेखक बर्दी कर्बाबायेव ने अपने बचपन के दिनो की शिक्षा का हाल यो लिखा है—

'दस साल तक की उम्र तक मैने स्कूल का नाम भी न सुना था। हमारे गॉव मे स्कूल जैसी कोई चीज नहीं थी। दरअसल आसपास की जवार मे भी कोई स्कूल नहीं था। मुझे याद है कि आखिर एक दिन पिताजी दूर के एक गॉव मे मुझे कुछ दोस्तो के पास ले गये जहॉ पर एक मकतब था।

'मुझे वह सीलन भरी कोठरी याद है जिसमे एक टूटा-फूटा दरवाजा था जिसके तख्तों में बड़े-बड़े छेद थे। कोठरी के बीच मे एक मोटा आदमी धारीदार पोशाक और सफेद पगड़ी पहने बैठा था। यह कोठरी मकतब थी और सफेद पगड़ी वाला मोटा आदमी मुल्ला था। उसके पास पतली-पतली सटिया रखी हुई थीं—ये सब पढाने का साधन थीं। मुल्ला के सामने लड़के गोल बॉध कर बैठे रहते थे और वह जब-तब उन पर सटी चालू कर देता था। हमारे कपड़े मैले और गदे थे। हम लोग सटी के सम पर मुल्ला के साथ-साथ आयतें दुहराते थे। बच्चों की वह दर्दनाक आवाज पास के खेतो और सड़क तक जरूर पहुॅचती रही होगी जिस पर से घुड़सवार और बैलगाड़ियाँ गुजरती रहती थीं।

'हमे अरबी की बहुत ही मुश्किल लिपि सीखनी पड़ती थी। सारे दिन हम ऐसे शब्दों को रटा करते थे जो समझ में खाक न आते थे। शाम को घर पहुॅचकर जब हम मॉ-बाप को अपना सबक सुनाते थे, तब उनके पल्ले भी कुछ न पड़ता था।

'सबसे खराब बात यह थी कि हमारी अपनी जबान में एक भी

किताब न थी । कुरान अरबी मे थी। जो व्याकरण पढाई जाती थी, वह भी अरबी की थी। कथा-उपन्यासो का जिक्र करना भी गुनाह था।

'इस तरह मकतब मे हमने ५-६ साल बिताये। वहाँ से निकलने पर हम उतने ही विद्वान थे जितने वहाँ आने के पहले। तुर्कमीनिया के अधिकाश बच्चो को यह पढाई भी नसीब न होती थी।

'सचमुच आज सोच कर डर-सा लगता है कि हम जिदगी से कितनी कम चीजों की माँग करते थे। दुनिया के बारे मे हम कितना कम जानते थे। अज्ञान और अन्धविश्वासो में जकड़ी हुई कितनी बौद्धिक शक्ति नष्ट हो गई जो विकास का मौका पाने पर अपना चमत्कार दिखा सकती थी।' (मौस्को न्यूज, १४ सितम्बर ४८)

इस बौद्धिक शक्ति को जकड़ने वाली बेड़ियाँ सिर्फ समाजवादी क्रान्ति से टूट सकती थी। विकास का और कोई तरीका नहीं था जो इस पिछड़ी हुई जाति की भाषा और सस्कृति को उन्नत करने का अवसर देता।

गैर-रूसी जातियो पर जारशाही रूस का दमन और अत्याचार तस्वीर का एक ही पहलू हमारे सामने रखता है। दूसरा पहलू उस दमन और अत्याचार से सम्बन्ध रखता है जिसे गैर-रूसी जातियो के खुद अपने यहाँ का घरेलू पूँजीवाद और सामन्तवाद उस पर ढाता था। खास तौर से सरहदी इलाको में मुल्लाओ और अमीरों ने जनता की भाषा और सस्कृति को कुचलने मे बहुत हाथ बटाया था। यह हम देख ही चुके हैं कि तुर्कमीनिया के एक गाँव मे मुल्ला सटी से अरबी पढाता था। यह कैफियत एक गाँव की नहीं थी, पिछड़े हुए इलाको के तमाम मुसलमानो को इस्लाम और कुरान के नाम पर मुल्लाओ और अमीरों का गुलाम बना कर रखा जाता था। इसके अलावा सामत, जमीदार और पूँजीपति एक जाति को दूसरी से लड़ाने मे, मजहबी और जातीय दगे और नरमेध कराने मे, हमेशा अगुवाई करते थे। इसलिए गैर-

रूसी जातियो का सामाजिक और सास्कृतिक विकास अकेले जारशाही रूस से लड़ने से ही न हो सकता था, यह विकास अपने घर के सामतों और पूँजीपतियों के असर को खत्म करने पर ही हो सकता था। इसी-लिए रूसी और गैर-रूसी प्रतिक्रियावाद के खिलाफ रूसी और गैर-रूसी मेहनतकश जनता की मिलीजुली लड़ाई चलाना जरूरी था।

स्तालिन ने दिखाया है कि पहली किस्म की जातियों में—जो औद्योगिक विकास की मजिल से गुजर चुकी थीं—घरेलू पूँजीवाद कौन-सा पार्ट अदा करता था।

उन्होने गैर-रूसी जातियो के विकासमान पूँजीवादी वर्ग के लिए लिखा है।

'नये पूँजीवादी वर्ग के लिए मुख्य समस्या बाजार की होती है।। उसका मकसद होता है माल बेचना और दूसरी जाति के पूँजीपतियों के मुकाबले की होड़ मे जीत हासिल करना। इसलिए उसकी इच्छा होती है कि वह 'अपना', 'घरका' बाजार कायम करे। बाजार वह पहली पाठशाला है जहाँ पूँजीवादी वर्ग राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ता है।'

[मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ २४]

आगे बढ़ी हुई जाति का पूँजीवादी वर्ग इस बाजार मे दखल देता है। वह अपने से होड करने वाले विकासमान पूँजीवादी वर्ग को वहाँ से हटा देना चाहता है। बड़ा पूँजीवादी वर्ग आर्थिक कट्रोल के साथ अपना राजनीतिक कन्ट्रोल भी लादता है। लोगो के नागरिक अधिकारों पर रोक लगाई जाती है। इसके अलावा भाषा और स्कूलों आदि पर रोक के साथ मजहबी पाबन्दियाँ वगैरह भी लगाई जाती हैं।

इस आर्थिक और राजनीतिक कन्ट्रोल के विरुद्ध पीड़ित जाति का पूँजीवादी वर्ग राष्ट्रीय स्वाधीनता का नारा बुलन्द करता है। स्तालिन ने लिखा है :—

'वह अपने जाति भाइयों से अपील करता है : 'मातृभूमि' की

गुहार मचाता है, वह कहता है कि उसका हित और सारी जाति का हित एक है। वह 'मातृभूमि' के हित मे अपने 'देशवासियो' की एक फौज इकट्ठा कर लेता है। उसके देशभाई उसकी बाते अनसुनी भी नही करते। वे उसके झडे के नीचे खड़े होते हैं। ऊपर से जो दमन होता है, उसका असर भी उन पर पड़ता है।

'इस तरह जातीय आन्दोलन शुरू होता है।'

'जातीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निश्चित होती है कि किस हद तक जाति का बड़ा हिस्सा—मजदूर और किसान—उसमे योग देता है।

'सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद (बुर्जुआ नेशनलिज्म) के झडे के नीचे इकट्ठा होता है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वर्ग-विरोध किस हद तक बढा है। वर्ग चेतन मजदूरो का अपना परखा हुआ झडा है, और कोई सबब नहीं है कि वह पूँजीवादी वर्ग के झडे के नीचे चले।' (उप० पृ० २५)

इस तरह स्तालिन ने मजदूर वर्ग को अपने घर के पूँजीवादी वर्ग की नीति से आगाह किया है। उसे बताया है कि इस 'मातृभूमि की गुहार' और 'राष्ट्रीयता' की लड़ाई में पूँजीपतियो का स्वार्थ छिपा हुआ है। उन्हें अपने झडे के नीचे इकट्ठा होना चाहिये।

स्तालिन ने स्पष्ट कर दिया है कि—'विकासमान पूँजीवाद की हालत मे जातीय सघर्ष पूँजीवादी वर्गों के हितो के लिए उनका अपना सघर्ष होता है। कभी-कभी पूँजीवादी वर्ग सर्वहारा वर्ग को जातीय आन्दोलन मे घसीट लेता है और तब ऊपरी तौर से जातीय सघर्ष एक 'जाति-व्यापी' रूप ले लेता है। लेकिन ऐसा ऊपरी तौर से ही होता है। तत्व रूप से यह सघर्ष एक पूँजीवादी सघर्ष होता है, ऐसा सघर्ष जो पूँजी-वादी वर्ग के हित मे और उसके लाभ के लिए होता है।' (उप० पृ० २७)

इससे जाहिर है कि मातृभूमि और राष्ट्रीयता की गुहार मचाने वाला यह पूँजीवादी वर्ग जनसाधारण को वह आजादी नहीं दे सकता जिसका वह वादा करता है। अगर उसका प्रभुत्व कायम हो जाय तो भी भाषा और सस्कृति के विकास की समस्या हल न होगी। बल्कि जरा सर उठा पाने पर यह राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग पास-पड़ोस की जातियो के साथ वही व्यवहार करने लगता है जो कुछ दिन पहले उसके साथ होता था।

स्तालिन ने दिखाया है, किस तरह आर्मीनिया का पूँजीवाद जार्जिया पर हावी होना चाहता था। इसलिए जार्जिया की पूँजीवादी 'राष्ट्रीयता' रूस-विरोधी न होकर आर्मीनिया-विरोधी थी। आर्मीनिया के पूँजीपतियो ने जार्जिया के छुटभैया पूँजीपतियो को हटा कर उनके बाजार मे दखल जमा लिया था। ज़ाहिर है कि आर्मीनिया का 'राष्ट्रीय' पूँजीवाद भाषा और सस्कृति की समस्या हल करने के बदले जातीय विद्वेष को और बढाता था। अपनी डाकू नीति को चालू रखने के लिए वह अपने मजदूर-किसान अवाम को दबाता था, उसे पिछड़ा हुआ और शिक्षा और सस्कृति से दूर रखता था और इस तरह खुद आर्मीनिया के विकास पर भी रोक लगाता था।

गृहयुद्ध के समय सरहदी इलाको का पूँजीवादी वर्ग अपने ही मजदूरों और किसानों के खिलाफ़ साम्राज्यवादी दखलदाजों से मिल गया। इन इलाकों में बहुत-सी 'राष्ट्रीय' सरकारे कायम हो गईं और उन्होने सबसे पहला काम यह किया कि 'राष्ट्र' को विदेशी फौजो के हाथों सौंप दिया।

स्तालिन ने पूँजीवादी वर्ग की इस गद्दारी पर लिखा है :—

'आखिर अब सभी पर यह जाहिर हो गया है कि देशी पूँजीवादी वर्ग (नेशनल बुर्जुआजी) 'अपनी जनता' को जातीय उत्पीड़न (नेशनल ऑप्रेशन) से छुड़ाना नहीं चाहता। इसके बदले वह इस

जनता से मुनाफा काटने की आजादी चाहता है, वह अपनी पूँजी और विशेषाधिकारो की रक्षा करने की आजादी चाहता है।

'आखिर अब सभी पर यह जाहिर हो गया है कि साम्राज्यवाद से नाता तोड़े बिना, पीडित जातियो के पूँजीवादी वर्ग को खत्म किये बिना और इन जातियों के मेहनतकश अवाम के हाथ मे ताकत आये बिना इन पीडित जातियों की आजादी की बात सोची भी नहीं जा सकती है।' (उप० पृ० ७३-७४)

गैर-रूसी जातियों के पूँजीवादी वर्ग ने मजदूर-किसान अवाम के खिलाफ क्रान्तिविरोधी रुख अपना कर और साम्राज्यवादी दखलदाजों का साथ देकर दिखा दिया कि वह जातीय स्वाधीनता और समानता का दुश्मन है और उसके रहते हुए भाषा और संस्कृति की उन्नति होना नामुमकिन है।

जिस तरह गैर-रूसी जातियों का पूँजीवादी वर्ग उनकी स्वाधीनता और समानता का दुश्मन साबित हुआ है, उसी तरह गैर-रूसी जातियों की सामन्तशाही, उसके अमीर-उमरा, बे, जमींदार और मुल्ला भी उनकी स्वाधीनता और समानता के दुश्मन साबित हुए। इन सामन्ती ताकतों ने जारशाही के सामने हमेशा घुटने टेके और अपनी जनता के खिलाफ क्रान्तिविरोधियों और साम्राज्यवादियों का साथ दिया।

१८६८ की लड़ाई के बाद बोखारा के अमीर ने जार का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया।

१८७३ में खीवा के खान ने बिना लड़े ही हथियार डाल दिये।

मुल्लाओ और अमीरों की मदद से दास प्रथा और गुलामी कायम रही। खीवा और बोखारा से गुलामी और दास-प्रथा का खात्मा सोवियत व्यवस्था कायम होने पर ही हुआ। [हिस्ट्री आफ यू० एस० एस० आर, मास्को १९४८, भाग २, पृष्ठ २२६]

जहाँ दास-प्रथा खत्म की गई, वहाँ भी किसानों की हालत नहीं

सुधरी। किसानों से उनके चरागाह और बहुत-सी खेती की जमीन छीन ली गई। सोवियत सङ्घ के इतिहास में इस तरह के 'सुधार' को किसानों की लूट कहा गया है जिससे सामन्तों को फायदा हुआ। (उप० पृ० २२६)

सोवियत सङ्घ का इतिहास दागिस्तान की सामती व्यवस्था—जिसने जारशाही से गठबधन कर लिया था—का वर्णन यों करता है :

'यहाँ पर समाज का प्रमुख वर्ग खानो और बेगों का था। उज्देन (किसान) इनके ताबेदार थे। बेगो के पास भी गुलाम होते थे। जब काकेशस पर ज़ारशाही का अधिकार हो गया, तब खान और बेग रूसी नौकरियाँ करने लगे। जार की फौज के सरक्षण में उन्होने दूसरे कबीलों (ट्राइबल कम्युनिटीज) की जमीन पर कब्जा कर लिया और उज्देनों को अपना बधक बना लिया। उज्देनों को मजबूर हो कर अपने स्वामियो के लिए बेगार करनी पड़ती थी और उनके लिए सामान मुहय्या करना पड़ता था। बेगों और खानों की मदद से जार के सेनापति बड़ी निर्दयता से पहाडी लोगो का शोषण करते रहे और उन्हें नेस्तनाबूद करते रहे।' (उप० पृ० १६५)

इस तरह गैर-रूसी पिछड़ी हुई जातियो के दो दुश्मन थे—एक तो विदेशी जारशाही और दूसरी देशी सामन्तशाही। इन दोनो को खत्म किये बिना इन पिछड़ी हुई जातियों के अवाम के लिए शिक्षा और सस्कृति का दरवाजा न खुल सकता था।

देशी सामतशाही और विदेशी जारशाही—ये दोनों आम जनता को दबाकर ही कायम रह सकते थे। इसलिए जारशाही की यह जानी-बूझी नीति थी कि पिछड़ी हुई जातियों पर सामन्तशाही का जुआ कायम रहने दिया जाय। स्तालिन ने लिखा है :—

'सरहदी इलाकों की जनता को गुलामी और जहालत में रखने के

लिए जारशाही वहाँ पर जानबूझ कर सामन्ती दादापथी उत्पीड़न को पालती थी।' [मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८२]

१९२० मे लेनिन ने चेतावनी दी थी कि जमींदार और मुल्ला इस्लामी एकता के बहाने, विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता की लड़ाई से अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश करेंगे। (सिलेक्टेड वर्क्स, भाग २, पृ० ६५७)

क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व मे यहाँ की जनता ने जारशाही को ही खत्म नहीं किया, उसने अपने यहाँ की सामतशाही को भी खत्म किया और सदियो की जहालत दूर करके अपनी भाषा और सस्कृति के विकास का रास्ता साफ कर दिया।

जारशाही और सामतशाही के दमन और उत्पीड़न के खिलाफ बोल्शेविक पार्टी ने नारा दिया—सभी जातियाँ समान हैं, सभी जातियाँ स्वाधीन हैं। [मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ २६७]।

बोल्शेविक पार्टी ने ऐलान किया कि जारशाही रूस को कोई हक नही है कि वह बेलोरूसिया, उक्रैन या अजरबैजान की भाषा और सस्कृति पर रोक लगाये, उनकी जातीय स्वाधीनता और अलग राष्ट्र बनाने के हक को मारे।

बोल्शेविक पार्टी ने ऐलान किया कि जारशाही रूस को कोई हक नहीं है कि वह अमीरो और बेगों से मिल कर कॉकेशस प्रदेश की जातियों का रूसीकरण करे, उनका दोतरफा शोषण करे, उनके सामाजिक और सास्कृतिक विकास को रोके।

बोल्शेविक पार्टी ने ऐलान किया कि जारशाही रूस को कोई हक नहीं है कि वह पिछड़ी हुई जातियो से उनकी जमीन छीन कर रूसी जमींदारो को दे दे और बाश्किर, चेचेन, इगुश आदि लोगों को नेस्तनाबूद करती रहे।

• आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था जो पीड़ित जातियो के जिन्दा रहने और खुलकर अपना विकास करने का मार्ग प्रशस्त करता था। वह पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय फौज के खिलाफ मजदूर वर्ग और मेहनतकश अवाम की अन्तर्राष्ट्रीय फौज का नारा था।

आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का साफ राजनीतिक मतलब लेनिन ने यह बताया है :—

'जातियो के आत्मनिर्णय का मतलब है, इन जातियों का गैरो से राजनीतिक अलगाव, उनके स्वाधीन जातीय राज्य का निर्माण।' (दि राइट आफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ १०)

स्तालिन ने इसी बात को यो कहा है :—

'हर जाति को आजादो से अपना भाग्य निश्चित करने का पूरा हक है। उसको हक है कि वह जैसे चाहे अपनी जिंदगी को व्यवस्थित करे। अवश्य ही, ऐसा करने मे यह दूसरी जातियो के हकों को न कुचले।' (मार्क्सिज्म एन्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ३१)

पूँजीवाद इस सिद्धान्त को लागू नही कर सकता। जातियों की स्वाधीनता और समानता की बात पूँजीवाद भी कहता है। लेकिन पूँजीवाद आज तक इस सिद्धान्त को कहीं लागू नहीं कर सका और न वह लागू कर सकता है।

स्तालिन ने इसका कारण यह बताया है :—

'पूँजी और व्यक्तिगत संपत्ति लाजमी तौर से लोगो मे फूट डालती है, जातीय शत्रुता को भड़काती है और जातीय उत्पीड़न को और तेज करती है। इसके बदले सामाजिक संपत्ति और श्रम उतने ही लाजमी तौर से लोगो को एक दूसरे के नजदीक लाते हैं और जातीय उत्पीड़न की जड़ काट देते हैं। बिना जातीय उत्पीड़न के पूँजीवाद का अस्तित्व सोचा नहीं जा सकता। इसी तरह पीड़ित जातियों की मुक्ति और उनकी

स्वाधीनता के बिना समाजवाद का अस्तित्व सोचा नहीं जा सकता।' (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ६१)

ज़ारशाही के पतन के बाद जो रूसी और गैर-रूसी पूँजीवादी सरकारें कायम हुईं, उन्होने अपने कामों से स्तालिन की इस बात को पूरी-पूरी तरह साबित कर दिया।

अप्रैल १९१७ के जाति-सबधी प्रस्ताव में बोल्शेविक पार्टी ने बताया कि नयी पूँजीवादी सरकार क्यो जातीय उत्पीड़न खत्म नहीं करती। उस प्रस्ताव के शुरू मे ही कहा गया था :—

'जातीय उत्पीडन की नीति निरकुश राज्यसत्ता और बादशाही से विरासत में ले ली गई है। अपने वर्ग के विशेषाधिकारो की रक्षा के लिए जमींदार, पूँजीपति और निम्न पूँजीवादी वर्ग उसका समर्थन करते हैं। वे विभिन्न जातियों के मजदूरो में फूट डालने के लिए इस नीति का समर्थन करते हैं। आधुनिक साम्राज्यवाद कमजोर जातियों को दबा लेने की कोशिशें बढ़ाता है। यह एक नया कारण है जिससे जातीय उत्पीडन तेज हो जाता है।' (लेनिन—सिलेक्टेड वर्क्स, खड २, पृ० ५३)

जार के गद्दी-त्याग के बाद रूस मे करेंस्की की सरकार बनी। करेंस्की रूस के पूँजीपतियो का प्रतिनिधि था। अपने वर्ग के हितों की रक्षा करने के लिए उसकी सरकार ने जातीय उत्पीड़न को खत्म नहीं किया, बल्कि इस दिशा मे उसने जार को भी मात कर दिया। उसने फिनलैंड की पार्लियामेंट को भग कर दिया और उक्रैन की तमाम सास्कृतिक सस्थाओ को एक साथ ही दबा दिया।

करेंस्की सरकार के जातीय उत्पीड़न के बारे मे स्तालिन ने बताया है :—

'जारशाही के खात्मे और पूँजीपतियों के हाथ में सत्ता आने से जातियों के उत्पीड़न का खात्मा नहीं हुआ। जातीय उत्पीड़न के पुराने और भोंडे रूप के बदले एक नया और शाइस्ता रूप आ गया, लेकिन

यह रूप और भी खतरनाक था। ल्वोव-मिल्यूकोव करेंस्की सरकार ने जातीय उत्पीडन को बन्द करना तो दूर रहा, फिनलैण्ड और उक्रैन के खिलाफ एक नयी मुहीम शुरू कर दी (१६१७ मे फिनलैड की पार्लियामेट भग कर दी और उक्रैन की सास्कृतिक सस्थाओ को सामूहिक रूप से दबा दिया गया।') (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ६६)

यह पूँजीवादी सरकार न तो रूस को साम्राज्यवादी युद्ध से अलग कर सकी, न किसानो को जमीन दे सकी और न मजदूरो को शोषण से बचा सकी। इसी तरह वह जातियो के उत्पीडन को भी बद न कर सकी बल्कि उसे बढाने का ही कारण बनी।

गैर-रूसी इलाको मे भी पूँजीवादी सरकारें कायम हो गईं थीं। इनका नखशिख भी वही था जो करेंस्की-सरकार का था।

'पूँजीवादी होने से उन्हें तनिक भी इच्छा न थी कि वे पुरानी पूँजीवादी दुनिया को मिटाये। इसके बदले वे इसे अपना कर्तव्य समझती थीं कि अपने बस भर वे उसे कायम रखे और उसे मजबूत बनाये। वे दरअसल साम्राज्यवादी थी, उन्हें साम्राज्यवाद से नाता तोड़ने की जरा भी इच्छा न थी। इसके बदले वे इस बारे में जरा भी आनाकानी न करती थी कि अगर मौका मिले तो 'गेरों' की जमीन का कोना दबा लें। कोई ताज्जुब नहीं कि सरहदी इलाको की इन राष्ट्रीय सरकारों ने केन्द्र की समाजवादी सरकार के खिलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया। एक बार जब उन्होने लड़ाई छोड़ दी, तब वे स्वभावतः प्रतिक्रियावाद का केन्द्र बन गईं और रूस के तमाम क्रान्ति-विरोधियों को अपनी तरफ खीचने लगी। यह कोई छिपी बात नहीं है कि रूस से निकाले हुए तमाम क्रान्तिविरोधी इन केन्द्रों मे इकट्ठा होने लगे और इन केन्द्रो के चारों तरफ गद्दार 'राष्ट्रीय' दस्ते बनाने लगे।' (उप० पृ० ७२)

इस तरह करेंस्की की पूँजीवादी सरकार ने ही जातीय उत्पीड़न की

नीति नहीं अपनाई, छोटे पैमाने पर गैर-रूसी इलाको की पूँजीवादी सरकारो ने भी वही नीति अपनाई। इसके सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता था। पूँजीवाद के रहते हुए जातियों की स्वाधीनता और समानता का सिद्धान्त अमल मे नहीं लाया जा सकता था। यह सिद्धान्त सर्वहारा क्रान्ति के जरिये ही लागू किया जा सकता था। पूँजीवाद और सामन्त-शाही के खात्मे से, किसानो और मजदूरो के हाथ में ताकत आने से ही यह सिद्धान्त अमल मे लाया जा सकता था।

इसलिए लेनिन और स्तालिन ने बताया कि जातियो के सवाल को कैसे जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के साथ जोड़ा जाय और उसी के जरिये उसे हल किया जाय।

जातीय आन्दोलन में पूँजीवाद और सर्वहारा दृष्टिकोण का अन्तर लेनिन ने यह बताया है :—

(१) 'जातीय मामलो में पूँजीवादी वर्ग हमेशा अपनी जाति के लिए विशेषाधिकारों और खास हकों के लिए कोशिश करता है। इसको 'प्रैक्टिकल' होना कहता है। सर्वहारा वर्ग तमाम विशेषाधिकारो और खास हकों का विरोध करता है।' (राइट आफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ २४)

(२) फलाँ जाति अलग होगी कि नहीं, इसका हाँ या नहीं में जवाब माँगना बहुत 'प्रैक्टिकल' समझा जाता है। दरअसल यों जवाब माँगना बेहूदा है। पूँजीवादी वर्ग अपनी जातीय माँगों को सबसे आगे रखता है। वह उनको नापतोल कर रखता है (कैटेगोरिकली)। लेकिन सर्वहारा वर्ग के लिए ये माँगे वर्ग सघर्ष के हितों के नीचे है।' (उप० पृ० २४)

लेनिन ने मजदूर अवाम के वर्ग संघर्ष को प्रमुख जगह दी, जातीय प्रश्न को उससे नीचे बताया। उन्होंने इस मसले पर पूँजीमतियों के

वर्गहितों का पर्दाफाश किया और बताया कि वे क्यों जातीय माँगों को सबसे आगे रखते हैं।

स्तालिन ने बताया है कि—'देश में पूरी तरह जनतत्र कायम करना ही वह आधार है और जरूरी शर्त है जिसके पूरा होने से जातीय समस्या हल होगी।' (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८०)

स्तालिन ने इस खतरे से आगाह किया कि वे और मुल्ला पुरानी व्यवस्था कायम करने की कोशिश करें तो मार्क्सवादियों का कर्तव्य चुप खड़े रह कर तमाशा देखना न होगा।

'क्या सोशल डिमौक्रैसी उदासीनता से देखती रहेगी जब जातीय समस्या हल करने में वे और मुल्ला अवाम की अगुवाई करेंगे ?' (उप० पृ० ३१)

स्तालिन ने बताया कि अवाम का हित किसी जाति के साथ रहने से होगा या उससे अलग हो जाने से, यह प्रश्न वहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। बाल्शेविक पार्टी ने इन ऐतिहासिक परिस्थितियों को सामने रखा, इसीलिए वह जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध सघर्ष को जनवादी क्रान्ति का अग बनाने मे सफल हो सकी।

'पीड़ित जातियाँ किसानो और शहर के मेहनतकश अवाम के रूप में ही नहीं सताई जातीं। वे एक जाति के रूप में भी सताई जाती हैं, यानी इस रूप में कि उनके मेहनतकश अवाम एक ही राज्यसत्ता, भाषा, सस्कृति, ज़िंदगी के एक से तौर-तरीके, रवाज और आदतो के हैं। उत्पीड़न का दोहरा बोझ पीड़ित जातियो के अवाम को इनकलाब की तरफ झुकाये बिना नही रह सकता, यह बोझ उसे उत्पीड़न की मुख्य ताकत पूँजी के खिलाफ लड़ने के लिए ठेले बिना नहीं रह सकता। यही वह आधार था जिस पर सर्वहारा वर्ग ने 'सर्वहारा-क्रान्ति' को 'किसान-युद्ध' से ही नहीं मिला दिया बल्कि उसे 'जातीय-युद्ध' से भी मिला दिया।' (मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ १८७)

पीड़ित जाति का अवाम दो तरह से पिसता था, एक तो अपने आर्थिक वर्ग रूप मे और दूसरे अपने जातीय रूप मे। यह दोहरा उत्पीडन उसे पूँजी के खिलाफ बगावत करने की प्रेरणा देता था। पूँजी-वादी शोषण के इस दोहरे रूप को सामने रखकर बोल्शेविक पार्टी ने जातीय उत्पीडन खत्म करने की लड़ाई को समाजवादी क्रान्ति के साथ मिला दिया।

समाजवादी क्रान्ति के हितो को सामने रख कर स्तालिन ने प्रादेशिक खुदमुख्तारी का नारा दिया। उन्होने कहा कि जातीय समस्या के हल में प्रादेशिक खुदमुख्तारो का आवश्यक स्थान है। (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८२)

स्तालिन ने बताया कि प्रादेशिक खुदमुख्तारी एक ऐसा अस्त्र है जो जातीय भेद को वर्ग-भेद मे बदल देता है और इस प्रकार जनवादी क्राति मे सहायक होता है। ऐसा होने पर पूरे इलाके की सभी जातियाँ मिल-जुल कर वहाँ की सपत्ति का इस्तेमाल करेंगी और अपनी उत्पादक शक्तियो को केंद्र के फैसलों का इन्तजार किये बिना बढा सकेंगी। (उप० पृ० ८३)

उन्होंने बताया कि वास्तविक जनतंत्र कायम होने पर जब जातियों को सच्ची समानता मिल जायगी, तब वे एक ही इलाके मे मिलजुल कर रह सकेंगी।

स्तालिन ने बताया कि मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता—रूसी और गैर-रूसी मजदूरों की एकता—ही जातीय समस्या को हल कर सकती है।

इन शर्तों के बिना जातियो की स्वाधीनता और समानता अमल में कायम न की जा सकती थी। इन शर्तो को पूँजीवाद या सामतशाही पूरा नहीं कर सकती थी। सिर्फ किसान-मजदूरो का सघर्ष और विजयी समाज-वादी क्रान्ति ही इस सिद्धान्त को अमल मे ला सकी।

जातीय उत्पीड़न में, जातीय आन्दोलन और सघर्ष मे, भाषा का

महत्व क्या है ? भाषा की समस्या जातीय समस्या के साथ अभिन्न रूप से क्यो जुड़ी हुई है ?

इस बात का बहुत साफ जवाब लेनिन ने दिया है। उन्होंने बताया है कि पूँजीवाद को अपने पाँव फैलाने के लिए समूची जाति को एक से आर्थिक सम्बन्धो मे बाँधने की जरूरत होती है और यह बिना एक भाषा का चक्र चलाए पूरा नही हो सकती।

लेनिन ने कहा है :—

'तमाम दुनिया मे सामन्तशाही पर पूँजीवाद की अन्तिम जीत का समय जातीय आन्दोलनों से जुड़ा रहा है। इन आन्दोलनों का आर्थिक आधार यह था कि बिकाऊ माल की पैदावार को पूरी तरह विजयी बनाने के लिये पूँजीवाद घरेलू बाजार पर कब्जा पा ले, उसके पास राजनीतिक रूप से मिला-जुला प्रदेश हो, इस प्रदेश में बसने वाली जाति एक ही भाषा बोलती हो, इस भाषा के विकास मे, साहित्य मे, उस भाषा को प्रतिष्ठित करने मे जो भी अड़चनें आती हों, वे दूर कर दी जायें। भाषा मनुष्य के परस्पर व्यवहार का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। आधुनिक पूँजीवाद के अनुकूल पैमाने पर सचमुच मुक्त और विस्तृत व्यवहार हो, आजादी से और मोटे तौर पर जनता के वर्ग बने और अत मे हर छोटे-बड़े मालिक, गाहक और बेचने वाले तथा बाजार के बीच निकट सम्बन्ध कायम हो,—इसके लिये भाषा की एकता और उसका बे रोक विकास सबसे महत्वपूर्ण शर्तें हैं।' (राइट आफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ १०)

लेनिन ने आधुनिक भाषाओं के विकास का असली क्रम यहाँ पर पेश कर दिया है। आधुनिक भाषाओं का विकास आधुनिक जातियों के विकास के साथ जुडा हुआ है। जब तक विकासमान पूँजीवादी वर्ग सामन्तशाही का पूरी तरह से अन्त कर के किसी प्रदेश के रहने वाले लोगों को बिकाऊ माल तैयार करने और एक मिलेजुले बाजार मे उसकी

खरीद-फरोख्त करने के सिलसिले में एक से आर्थिक सम्बन्धों मे नहीं बाँधता, तब तक भाषाएँ भी गठित और विकसित नहीं होतीं। विकासमान पूँजीवादी वर्ग अपना घरेलू बाजार कायम करने के लिये भाषा के सवाल को भी उठाता है। पीड़ित जाति के पूँजीवादी वर्ग के लिये यह मुमकिन नहीं होता कि वह बिना भाषा की स्वाधीनता के अपने इलाके में एक मिलाजुला बाजार कायम कर सके। इसीलिये पीड़ित जाति का पूँजीवादी वर्ग जाति के अन्य अधिकारों में अपनी भाषा को महत्व देता है।

भाषा के क्षेत्र में भी, इस प्रकार, आगे बढ़ी हुई जाति के पूँजीपति वर्ग से पिछड़े हुए स्थानीय पूँजीपति वर्ग की टक्कर होती है।

यह रवैया तो पिछड़ी या आगे बढ़ी जाति के पूँजीवादी वर्ग का हुआ। लेकिन जातीय अधिकारों की लड़ाई में भाषा का सवाल सर्वहारा और मेहनतकश अवाम के लिये महत्वपूर्ण है। सर्वहारा वर्ग जब अपने जातीय अधिकारों के लिये लड़ता है तो वह भी भाषा के सवाल को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

स्तालिन ने बताया है कि सर्वहारा वर्ग के लिये अपनी भाषा का सवाल क्यों महत्वपूर्ण है। स्तालिन ने बताया है कि जातीय अधिकारों का दमन पूँजीवादी वर्ग के मुकाबले मे मजदूरों को ही ज्यादा नुक्सान पहुँचाता है। इससे मजदूरो का बौद्धिक विकास मारा जाता है। स्तालिन ने लिखा है :—

'तातार या यहूदी मजदूर कभी अपना बौद्धिक विकास नहीं कर सकता अगर उसे मीटिंगों और लेक्चरों में अपनी भाषा को इस्तेमाल न करने दिया जाय और अगर उसके स्कूल बद कर दिये जायँ।' (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० २७)

स्तालिन ने यह भी बताया है कि सर्वहारा वर्ग भाषा के मसले को किस दृष्टि से देखता है। पूँजीवादी वर्ग सर उठाने का मौका मिलते ही दूसरों का कोना दबाने की कोशिश करता है। वह भाषा के मामले में

भी दूसरों के अधिकारों पर हमला करने से नहीं चूकता। हर पूँजीवादी देश में अल्पसख्यक जाति के लोगों के लिये अपनी भाषा मे शिक्षा पाने का अधिकार एक समस्या बन जाता है। इसके खिलाफ सर्वहारा वर्ग अपने बौद्धिक विकास का दृष्टिकोण सामने रखता है, इसलिये वह स्वाधीनता और समानता की जमीन पर इस समस्या को हल करता है।

स्तालिन के वाक्यों से जाहिर है कि मजदूर वर्ग के लिये अपनी भाषा में शिक्षा पाने और उसे विकसित करने का अधिकार समाजवादी क्रान्ति से पहले ही नही, उसके बाद भी महत्वपूर्ण है।

स्तालिन ने बताया है कि जातीय भाषा मे कचहरी, स्कूल और शासन का काम चलाये बिना सोवियत खुदमुख्तारी अमल मे नहीं लायी जा सकती। इसलिये समाजवादी क्रान्ति का उद्देश्य सफल करने के लिये, हर जाति को अपना राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकास करने का अवसर देने के लिये यह जरूरी है कि उसकी अपनी भाषा को विकसित होने दिया जाय और तमाम आर्थिक, राजनैतिक और सास्कृतिक काम उसी की भाषा में होने दिये जायँ।

सन् १९२० के अपने एक लेख में स्तालिन ने लिखा था :—

'सोवियत खुदमुख्तारी कोई हवाई चीज नहीं है। वह सरहदी इलाकों की जनता के भौतिक विकास का साधन है। वह उन्हें केन्द्रीय रूस के साथ एक ही सर्वहारा राज्य मे मिला कर रखने का साधन है।

'सरहदी इलाको में वास्तविक सोवियत व्यवस्था तब तक कायम नहीं हो सकती जब तक वहाँ की जनता अपनी ही भाषा में अपना सारा राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक काम नहीं करती। शासन और सस्कृति का काम जातीय भाषाओं में हो, यह सोवियत व्यवस्था कायम होने का एक सबूत होगा।' (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ८४)

इन मार्क्सवादी लेनिनवादी मान्यताओं के बल पर स्तालिन ने जाति और भाषा के मसलों मे हर राष्ट्रीय गुमराही का डट कर मुकाबला किया।

इन मान्यताओं के बल पर ही वह सोवियत जातियों का अटूट एका कायम कर सके।

समाजवादी क्रान्ति के पहले और उसके बाद, "दोनों ही दशाओं में, भाषा का सवाल—अपनी भाषा में शिक्षा पाने और अपना बौद्धिक विकास करने का सवाल, अपनी भाषा में तमाम आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन गठित करने का सवाल—सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश अवाम के लिए एक महत्वपूर्ण सवाल रहा है।

भाषा का सवाल जातियों के सवाल के साथ जुड़ा हुआ है। और जातियों का सवाल वर्ग-संघर्ष के हितों के साथ सम्बद्ध है।

वर्ग-संघर्ष के मुकाबले में जातीय समस्या एक गौण समस्या है। उसे अपना अस्त्र बनाकर पूँजीवादी वर्ग मेहनतकश अवाम को क्रान्ति की राह चलने से रोकता और भटकाता है, मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में बाधा डालता है। इसलिये उसका सही हल पेश करना जरूरी होता है।

भाषा का सवाल जातीय समस्या में प्रमुख स्थान रखता है। इसलिये पूँजीवादी वर्ग के हाथ में जनता को भटकाने का यह सबसे बड़ा साधन बन जाता है। इसीलिये उसका सही हल पेश करना जरूरी होता है।

भाषा का सवाल, जनता को भटकाने का साधन, समाजवादी क्रान्ति से पहले ही नहीं, उसके बाद भी रहता है। नष्ट होते हुए पूँजीवादी गुट और भी जोरों से उस साधन का प्रयोग करते हैं।

१९३४ की एक रिपोर्ट में स्तालिन ने बताया है कि पूँजीवाद के अवशेष बड़ी देर में मिटते हैं। ये अवशेष सब से ज्यादा जातीय मसले में पाये जाते हैं।

पूँजीवाद के अवशेष जातीय पोशाक पहन कर अपनी हिफाजत करते हैं। जातीय पोशाक तैयार करने में भाषा का मसला उनकी खास मदद करता है। (नेशनल क्वेश्चन, पृ० २९७)

स्तालिन ने भाषा के सवाल पर जिस तरह और जितनी बार राष्ट्र-

बादी गुमराहियो का पर्दाफाश किया है, उससे ज़ाहिर है कि पूँजीवाद के अवशेष जातीय चेत्र मे भाषा का सवाल लेकर सबसे ज्यादा पैर अड़ाते हैं। वे अपनी जातीय पोशाक मे भाषा और सस्कृति के उद्धारक और निर्माता का बिल्ला लगा लेते हैं जिससे जनता को भटका कर अपना वर्ग-रूप छिपाने मे अधिक आसानी हो।

बोल्शेविक पार्टी के विरोधियो की एक दलील यह थी कि अगर सभी जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया गया तो राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। उनका कहना था कि अगर जारशाही एकता का ताना-बाना टूट गया तो चारो तरफ़ अराजकता फैल जायगी। उनकी एक दलील यह भी थी कि आगे बढी हुई रूसी भाषा और सस्कृति का प्रसार करके ही हम पिछड़े हुए लोगो को सभ्य और सुसस्कृत बनाने के अपने मिशन को पूरा कर सकते हैं।

बोल्शेविक पार्टी ने दिखा दिया—सिद्धान्त रूप से मान कर ही नहीं बल्कि असली-तौर से कि आत्म-निर्णय के आधार पर बनी हुई एकता ही सच्ची एकता होती है, और सब एकता ढोंग और पिछड़ी हुई जातियों को दबा रखने और उनका शोषण करने का एक बहाना है। बोल्शेविक पार्टी ने जारशाही रूस की दमन पर आधारित एकता के सचमुच टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उसकी जगह उसने समाजवादी सोवियत प्रजातन्त्रो का शानदार यूनियन कायम किया।

उनकी एक दलील यह थी कि आत्म-निर्णय का अधिकार मानने से पूँजीपतियों का हित होगा, इससे मजदूर वर्ग और अवाम की एकता नष्ट हो जायगी। इसलिए मार्क्सवादियों को आत्म-निर्णय की बात नहीं माननी चाहिए।

बोल्शेविक पार्टी ने दिखाया कि यह ऊपर से 'गरम' लगने वाली

बात दरअसल 'नरम' पूँजीवादी विचारो का ही समर्थन करती है। यह 'गरम' मालूम पड़ने वाली धारणा एक जाति पर दूसरी जाति के पूँजी-पतियो के शोषण को कायम रखती हैं और इस तरह मजदूर वर्ग और मेहनतकश अवाम की एकता मजबूत करने के बदले दरअसल उस एकता के लिये सबसे बड़ी अड़चन बन जाती है। इसलिये बोल्शेविक पार्टी ने पीड़ित जातियों के अवाम से कहा कि तुम्हें आत्म-निर्णय का पूरा हक है लेकिन इस हक को तुम तभी अमल मे ला सकते हो जब आगे बढ़ी हुई जाति के मजदूरों के साथ मिल कर देशी और विदेशी पूँजीवाद और सामन्तशाही के खिलाफ सघर्ष करो।

एक दलील यह थी कि बोल्शेविक पार्टी कुछ लोगो को जबर्दस्ती जाति का रूप दे रही है। ये लोग दर असल रूसी जाति के ही अन्तर्गत है, उन्हें अलग जाति मानना उनके ऐतिहासिक विकास को रोकना है।

रूसी कम्युनिष्ट पार्टी की दसवी काग्रेस में (मार्च १९२१) स्तालिन ने इन लोगो का जिक्र किया था। उन्होंने इस बात का जवाब दिया था कि क्या बोल्शेविक नकली तौर से नयी जातियाँ बना रहे हैं।

स्तालिन ने जातियो के सवाल पर काग्रेस के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा.—'मेरे पास एक पुर्जा आया है जिसमे कहा गया है कि हम बोल्शेविक बेलोरूसियन जाति को नकली तौर से बना रहे हैं। यह बात सही नहीं है क्योंकि बेलोरूसियन नाम की एक जाति है जिसकी रूसी से अलग अपनी जबान है। इसलिये बेलोरूसियन लोगो का सास्कृतिक धरातल उनकी अपनी भाषा के जरिये ही ऊँचा किया जा सकता है।' (उप० पृ० ११०)

इसके बाद स्तालिन ने उक्रैन के बारे मे कहा :—

'इस तरह की बातें करीब पाँच साल से पहले उक्रैन और उक्रैनी जाति के बारे मे भी कही जाती थीं। अभी हाल तक यह कहा जाता रहा है कि उक्रैनी प्रजातत्र और उक्रैनी जाति जर्मनो की कल्पना है।

लेकिन यह बात स्पष्ट है कि उक्रैनी जाति का अस्तित्व है और कम्युनिस्टों का कर्तव्य है कि उसकी सस्कृति का विकास करें। हमे इतिहास के विरोध मे न चलना चाहिये।'

उक्रैन और बेलोरूसिया के अलग जाति होने की कसौटी क्या है, इस बारे मे स्तालिन ने कहा :—

'यह बात स्पष्ट है कि उक्रैन के शहरों मे रूसियो की अब भी प्रमुखता है। वक्त बीतने पर ये शहर भी उक्रैनी बन जायँगे। करीब चालीस साल पहले रीगा जर्मन शहर था लेकिन चूंकि शहर बड़े होते हैं गाँवों के लोगों के आने से, और गाँव के जातीयता के रक्षक हैं, इसलिए रीगा अब शुद्ध रूप से लेत जाति का शहर बन गया है। करीब पचीस साल पहले हगरी के तमाम शहर जर्मन शहर बने हुये थे, अब वे मग्यार जाति के शहर बन गये हैं। यही बात बेलोरूसिया के लिए भी सच होगी जिसके शहरों मे अभी गैर-बेलोरूसियो की प्रमुखता है।' (उप० पृ० ११०)

इस तरह स्तालिन ने इस दलील का खडन किया कि बोल्शेविक पार्टी नकली तौर पर जातियाँ बना रही है। उन्होंने मार्क्सवाद की रोशनी इस उलझन पर डाली कि शहरों मे 'क' जाति प्रमुख है और गाँवों मे 'ख' प्रमुख है, तो उस देश की जाति 'क' हुई, या 'ख'।

बोल्शेविक पार्टी का विरोध करने वालो मे सिर्फ पूँजीवादी राजनीतिज्ञ और विचारक ही नहीं थे। उसके विरोधियो मे ऐसे लोग ही नहीं थे जो खुले आम जारशाही रूस और पूँजीवाद के ख़ात्मे पर आँसू बहा रहे थे। उसके विरोधियों मे ऐसे लोग भी थे जो जारशाही रूस और पूँजीवाद के खात्मे पर खुल कर आँसू नहीं बहाते थे, बल्कि चोर नारि जिमि प्रकट न रोई,—वे ऊपर से तो खुशी जाहिर करते थे, लेकिन दिल उनका रोता था।

ऐने लोगों मे एक काट्स्की था, जिसे लेनिन ने अपनी पुस्तक

'सर्वहारा क्राति और गद्दार काट्स्की' में अमर कर दिया है। काट्स्की ने भाषा के सम्बन्ध मे अपना अलग मार्क्सवाद चलाया था। इस 'मार्क्सवाद' का चेहरा अन्तरराष्ट्रीय था, लेकिन आत्मा उसकी अध राष्ट्रवादी थी। कास्ट्की ने जर्मन अध राष्ट्रवाद को इस प्रकार लागू किया था। उनका कहना था कि १९ वीं सदी मे आस्ट्रिया और जर्मनी के सयुक्त राज्य में सर्वहारा क्राति की विजय से वहाँ एकमात्र राष्ट्रभाषा, जर्मन भाषा, का चलन हो जाता यदि वहाँ पर जो जेक जाति के लोग रहते थे, उनका 'जर्मनीकरण' हो जाता। इसके लिए जोर-जबर्दस्ती बिल्कुल न करनी पडती, बल्कि जर्मन सस्कृति से बेरोक सम्पर्क होने पर जेक मजदूर, किसान और मध्यवर्गी लोग जर्मन बन जाते। आखिर उन्हे अपनी 'भोडी जातीयता' से मिलता ही क्या? (काट्स्की के अध राष्ट्रवाद का यह लेखा-जोखा सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की १६ वीं काग्रेस मे स्तालिन ने अपनी रिपोर्ट मे दिया है।)

स्तालिन ने १९२५ में इस विचार का खडन किया था। १९३० में १६ वी पार्टी काग्रेस मे रिपोर्ट देते हुए उन्होंने फिर उसका खडन किया। स्तालिन ने बताया कि अगर काट्स्की का अध राष्ट्रवाद सही हो तो बोल्शेविक पार्टी को उक्रैन, बेलोरूसियन, ताजिक, तुर्कमन, किरगिज आदि जातियों के रूसीकरण मे लग जाना चाहिये। लेकिन रूसीकरण के बदले बोलशेविक पार्टी इन जातियों के स्वाधीन विकास में सहायता दे रही थी।

काट्स्की के कुछ अनबूझ चेले सोवियत सङ्घ में एक ही भाषा के चलन की माँग कर रहे थे। वे कहते थे, मजदूर-मजदूर सब एक हैं, सोवियत सङ्घ मे मजदूरों का राज्य है, इसलिए सोवियत सङ्घ की सब जातियो की भाषा भी एक होनी चाहिये।

स्तालिन ने इस 'अतरराष्ट्रीयवाद' का नकाब उलट कर उसके पीछे छिपी हुई रूसी राष्ट्रवाद की असली सूरत दिखा दी।

उन्होंने कहा, 'क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि एक ही राज्य की सीमाओं के भीतर, सोवियत सघ की सीमाओ के भीतर, एक आम जबान के लिये आंदोलन करके ये लोग दरअसल पहले की सब पर हावी होने वाली जबान यानी रूसी जबान के विशेषाधिकारो को फिर से कायम करने की कोशिश कर रहे हैं? इसमे अतरराष्ट्रीय की कौन सी बात है?'

समाजवादी जहाँ एक तरफ भाषाओं के स्वाधीन विकास का समर्थन करते हैं और उसे रोकने की, उन अध राष्ट्रवादी कोशिशो का, विरोध करते हैं जो आगे बढी हुई, प्रभुत्व चाहने वाली जाति की तरफ से होता है, वहाँ दूसरी तरफ वे पिछड़ी हुई जातियों के राष्ट्रवाद का भी विरोध करते हैं जब इन जातियो के कुछ लोग सर्वहारा अतरराष्ट्रीयता के खिलाफ प्रचार करते हैं और भाषा और सस्कृति के क्षेत्र मे यह माँग करते हैं कि आगे बढी हुई जाति की सस्कृति का कोई चिन्ह उनकी अपनी जातीय सस्कृति पर न रहे और उसकी भाषा के शब्द उनकी अपनी जातीय भाषा से निकाल दिये जायें। स्तालिन ने अपने भाषणो में इस गुमराही की तरफ से भी आगाह किया है। उक्रैन के एक अखबार में एक बार यह छपा था कि उक्रैनी कविता को जल्दी से जल्दी रूसी साहित्य और उसकी शैली से दूर चले जाना चाहिये। स्तालिन ने सावधान किया कि इस तरह की अति से उक्रैनी जाति का सामाजिक जीवन और उसकी सस्कृति सोवियत समाज और सस्कृति की धारा से दूर जा पड़ेंगे।

जातियों के सवाल पर चाहे रूसी राष्ट्रवाद हो, चाहे स्थानीय राष्ट्रवाद हो, दोनों का तत्व स्तालिन ने यह बताया है :—

'मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय नीति को पूँजीवादी वर्ग की राष्ट्रीय नीति के अनुकूल बनाना राष्ट्रवादी गुमराही है।' (उप० पृ० २६७)

भाषा के सम्बन्ध में भी गुमराही बुनियादी तौर से इसी तरह की

राष्ट्रवादी गुमराही हो सकती है। दूसरे शब्दो मे जब हम भाषाओ के स्वाधीन विकास और उनके स्वाभाविक आदान-प्रदान को नहीं मानते तो हम मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय नीति छोडकर पूँजीपतियो की राष्ट्रीय नीति पर चलने लगते हैं।

इसी आधार पर सोवियत सघ की बहुत-सी पिछड़ी हुई जातियाँ, जिनकी भाषा मे नयी सामाजिक और सास्कृतिक आवश्यकताओ के लिए शब्द नही हैं, रूसी भाषा से शब्द लेकर इस कमी को पूरा करती हैं। बहुत से शब्द वे खुद अपने अन्दर से बनाती हैं। एक लेखक ने उत्तरी जातियों की मिसाल देते हुए इस बात को यों समझाया है :—

'जनता की जिन्दगी पर जब नये असर पड़ते हैं और उनके उत्पादन के तरीकों और सामाजिक सङ्गठन के रूपों मे गभीर परिवर्तन होते हैं, जैसा कि उत्तरी जातियों के साथ हुआ, जब वे सोवियत व्यवस्था मे आधुनिक सभ्यता की तरफ बढ़ीं, तो उनकी भाषा भी इसके अनुरूप बदल जाती है। नयीं धारणाएँ प्रकट करने की जरूरत पड़ती है जिनसे लोग पुरानी व्यवस्था में अपरिचित थे। नये शब्द, नये मुहावरे और भाव-प्रकाशन के नये तरीके बनाने पड़ते हैं।

'उत्तरी जबानो में बहुत से शब्द पुराने शब्दो को मिला कर बनाये गये हैं। भाषा की अपनी प्रकृति का ख्याल रखकर ये शब्द बनाये जाते हैं। मिसाल के लिए सामी लोगों को हवाई जहाज की बात करने मे दिक्कत नहीं होती, वे उसे 'उडन तखत' कहते हैं। इसी तरह कारखाने को वे 'कामघर' कहते हैं। इसके अलावा रूसी शब्द और मुहावरे अपना लिए गये हैं और उन्हे स्थानीय भाषा की उच्चारण-विशेषता के अनुकूल बना लिया गया है।' (अलेग्जैंदर इवानोव, सोवियत वीकली, २१ अगस्त, १६४७)

स्तालिन ने बार-बार रूसी अन्धराष्ट्रवाद के खतरे से आगाह किया है। यह अध राष्ट्रवाद भाषा के मामले मे इस प्रकार प्रकट होता था कि

सोवियत सङ्घ मे रूसी भाषा बोलने वालों की तादाद सबसे ज्यादा है, इसलिए रूसी भाषा को तमाम प्रजातन्त्रों की आम भाषा, कामन लैंग्वेज मान लेना चाहिये। स्तालिन ने किसी भी भाषा को इस तरह का विशेषाधिकार देने का विरोध किया। उन्होंने इस तरह के विशेषाधिकारो की माँग को रूसी राष्ट्रवाद कहा जो जातियो की स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त से टकराता है।

स्तालिन ने बताया कि मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीयता इस बात मे नही है कि पिछड़ी हुई जातियो की भाषा और सस्कृति को विकसित न होने दे, बल्कि 'दरअसल सर्वहारा डिक्टेटरशिप और सोवियत सङ्घ में समाजवादी निर्माण का युग उस जातीय सस्कृति के विकास का युग है जिसका रूप जातीय होता है और भीतरी तत्त्व समाजवादी होता है।' (उप० पृ० १६१)

समाजवादी यह चाहते हैं कि अनेक जातियां की सस्कृति आगे चल कर एक हो, आगे चल कर अनेक भाषाएँ मिल कर एक हो। तब वे इन विभिन्न जातियों और सस्कृतियो के विकास का समर्थन क्यो करते हैं ?

स्तालिन ने इस सवाल का यह जवाब दिया —

'जातीय सस्कृति को अपना विकास और प्रसार करने देना चाहिये और उनके तमाम विकास-योग्य तत्वो को फूलने देना चाहिये जिससे कि वे आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा हो सके जिनमे एक सामान्य सस्कृति बन सके जिसकी एक सामान्य भाषा हो।' (उप० पृ० १६१)

स्तालिन ने यह बात स्पष्ट कर दी कि आगे चल कर जब समाजवाद की विजय पूरी दुनिया मे हो जायगी, जब समाजवादी व्यवस्था सुदृढ हो जायगी और समाजवाद एक रोजमर्रा की आम बात हो जायगा, तब अनेक जातियों की भाषाएँ लाजमी तौर से एक दूसरे से मिलें-जुलेंगी, लेकिन उनके मिलने-जुलने से बनने वाली ससार की एकमात्र भाषा न

रूसी होगी, न जर्मन, बल्कि इनसे अलग एक नयी ही चीज होगी—(पृ० २६४)

इस तरह स्तालिन ने भाषाओ के विकास मे डायलेक्टिक्स का सिद्धात लागू करके बताया कि अलग-अलग भाषाओं का विकास ही आगे चलकर एक सामान्य भाषा का निर्माण कर सकता है।

स्तालिन की यह धारणा मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पुष्ट ही नहीं करती, वरन् आधुनिक भाषा-विज्ञान को उनकी यह बहुमूल्य देन है,—स्तालिन की इस धारणा ने पूँजीवादी भाषा-वैज्ञानिकों और उनकी प्रिय मान्यताओ का तख्ता ही पलट दिया।

पूँजीवादी भाषा वैज्ञानिकों ने एक स्वर से गैर-रूसी भाषाओ को बोली कह कर उनके भावी विकास को नामुमकिन घोषित कर दिया था। बोल्शेविकों की भाषा सम्बन्धी नीति से वे बहुत असन्तुष्ट थे क्योंकि यह नीति उनके जाने-माने और प्यारे सिद्धान्तों की जड़ काटे दे रही थी।

सोवियत सङ्घ की जातियो की भाषा के विकास ने इन तमाम सिद्धान्तो और महापडितो को भविष्यवाणी को झूठा साबित कर दिया। इतिहास ने दिखा दिया कि उसकी गति समझने वाले लेनिन और स्तालिन थे, न कि ये विद्वान् और भाषा-विज्ञान के महापडित !

मिसाल के तौर पर हम मेइये की भविष्यवाणी को ले सकते हैं जिसने बेलोरूसियन, उक्रैनी, लेत, एस्टोनियन, और काकेशन प्रदेश की भाषाओ के भावी विकास से इन्कार किया था। मेइयें फ्रास का सबसे बड़ा भाषा वैज्ञानिक था और अब तक दुनिया के सबसे बड़े भाषा वैज्ञानिको मे उसकी गिनती होती है।

बेलोरूसियन भाषा के लिए उसने लिखा था कि यह साहित्य की भाषा नहीं है और बेलोरूसी नाम की कोई आम जबान नहीं है। बेलोरूसियों के पास रूसी छोड़कर दूसरी साधुभाषा नहीं है।

उक्रैनी जबान के बारे मे मेइये का कहना था कि रूसी भाषा से अलग अपने पैरो खड़े होना उनके लिये मुमकिन नही है। बेलोरूसिया और लिथुआनिया की तरह उक्रैन मे अभिजात वर्ग के लोग पोल हैं। इसलिए इन देशो मे उन्ही की भाषा मुख्य साधुभाषा बन गई है। उनकी अपनी बोलियाँ सहज देहाती बोलियाँ हैं जिनका सम्बन्ध सभ्यता और संस्कृति से नही है। लिथुआनियाँ मे बड़े बड़े शहर नही है जिनमे वही के लोगो की बहुतायत हो। इसलिये लिथुआनी जबान का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

काकेशस प्रदेश के लिए उन्होने कहा था कि वहाँ की आमफहम जबान रूसी हो गई है। तिफ्लिस और बाकू मे रूसी बोली जाती है और साम्राज्य के विनाश के पहले वहाँ के स्कूलो, शासन सस्थाओ और व्यापार वगैरह की जबान रूसी थी। मेइये ने फ्रासीसी उपनिवेश अल्जीरिया की मिसाल दी कि उसकी साधुभाषा भी फ्रासीसी बन गई है। फ्रासीसी साम्राज्यवाद जिस तरह उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशो मे वहाँ की भाषा और सस्कृति का गला घोटने की कोशिश कर रहा था, उसी तरह जारशाही रूस सरहदी इलाको की जातियो की भाषा और सस्कृति का गला घोट रहा था। मेइये ने भाषा-विज्ञान का वर्ग आधार निबाहते हुए फ्रासीसी और रूसी दोनो ही साम्राज्यो की नीति का समर्थन किया।

उन्होने यूरोप मे जबानो की बहुतायत पर परेशानी जाहिर की है। उनकी ख्वाहिश है कि इनकी तादाद कुछ कम होनी चाहिए। उनकी राय मे इतनी जबानों का फलना-फूलना ऐसा सङ्कट पैदा कर रहा है जिससे निकलना बहुत मुश्किल हो जायगा। भाषाओ की बहुतायत को वह सभ्यता के विकास की तमाम धाराओं के खिलाफ समझते थे।

विशाल जार-साम्राज्य मे रूसी भाषा के जरिये तमाम जातियो की एकता कायम हो, भाषा के जरिये ही उनकी सभ्यता और सस्कृति का

विकास हो, इस पूँजीवादी वर्ग भावना पर मेइये ने भाषा विज्ञान की मोहर लगा दी थी। आज उक्रैनी बोलोरूसी ही नहीं, काकेशस प्रदेश की भाषाओ मे, सुदूर उत्तर की एस्किमो जाति की भाषा मे जो किताबे निकल रही हैं, वे मेइये की भविष्यवाणी को ही झूठा साबित नही कर रहीं, वे लेनिन की इस धारणा को भी पुष्ट कर रही हैं कि वर्ग भेद वाले समाज में विज्ञान और सस्कृति वर्गों से परे नहीं है।

रूसी भापा द्वारा एकता कायम करने के प्रबल पक्षपाती होने के कारण लाजमी तौर से मेइये की हमदर्दी रोमानोव खान्दान से थी जिसने यह एकता कायम करने में सबसे गौरवपूर्ण काम किया था। इसलिये महान् जार-साम्राज्य का ध्वस होते देखकर, रूसी भाषा द्वारा कायम की जाने वाली एकता का स्वप्न भङ्ग होते देखकर, मेइये का हृदय चीत्कार कर उठा—'आह, अब की बिगड़ी न जाने फिर कब बनेगी !'

समाजवादी क्रान्ति से जातीय उत्पीड़न की नीति मे, राजनीति, भाषा और सस्कृति के क्षेत्र मे जो परिवर्तन हुआ वह इन शब्दो से जाहिर होता है :—

'अब जमींदारों और पूँजीपतियो को खत्म कर दिया गया है और इन इलाकों में भी आम जनता ने सोवियत राज कायम करने की घोषणा कर दी है, इसलिए गैर-रूसी जातियों के मेहनतकश अवाम की पार्टी का कर्तव्य है कि वह मदद करे कि वे अपने से आगे बढी हुई रूसी जाति के बराबर आ जायँ। उसे इन बातों में मदद देनी चाहिये—(१) अपनी जातीय विशेषता के अनुकूल रूपो मे वे सोवियत राज्य-व्यवस्था को विकसित करें और दृढ़ बनायें। (२) वे अपनी कचहरियो, शासन-सस्थाओ, आर्थिक और सरकारी सस्थाओं का सङ्गठन करे। ये सस्थाएँ वहीं की भाषा मे काम करें और उन्हें चलाने वाले वहीं के लोग हो जो स्थानीय जनता के रीति-रवाजों और मानसिक गठन साइकालोजी से परिचित हों। (३) वें प्रेस, स्कूलों, नाटकघरो, क्लबों, और आम तौर

के सास्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी सस्थाओं को विकसित करें और ये सब वहीं की भाषा में अपना काम करें।' (उप० पृ० ६४ ६५)

इससे जाहिर है कि बोल्शेविक पार्टी की नीति भाषा और सस्कृति के क्षेत्र में जातियों की राजनीतिक स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त को पूरी तरह लागू करती थी। उसने उनकी भाषा और सस्कृति के विकास पर किसी तरह का भी बधेज स्वीकार नहीं किया। उसने भाषाओं की समस्या को जातियों की पूर्ण स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त के बल पर हल किया। भाषाओं पर, किसी भी तरह की पाबदी लगाना उसने जातीय उत्पीड़न का ही एक रूप समझा।

अप्रैल १९१७ में होने वाली कान्फ्रेंस मे बोल्शेविक पार्टी ने जातियों की समस्या पर स्तालिन की रिपोर्ट के बाद एक ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया था। उसमें भाषा और सन्कृति के बारे मे ये बातें कही गई थीं :—

'पार्टी मॉग करती है कि मोटे तौर पर प्रादेशिक स्वायत्त शासन कायम हो, ऊपर से नियत्रण का खात्मा किया जाय, लाजमी राजभाषा को रद्द किया जाय, खुद मुख्तार और स्वायत्त प्रदेशों की जनता, वहाँ की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए, आबादी में किन-किन जातियो के लोग हैं, यह सब देखते हुए, उन प्रदेशो की सीमाएँ नियत करे।' (लेनिन, सिलेक्टेड वर्क्स, खण्ड २, पृ० ५५४)

सोवियत सङ्घ के सोलह समाजवादी प्रजातत्रो को शिक्षा और सास्कृतिक विकास में पूरी स्वाधीनता है। उनके स्कूलो, कालेजो, और न्यायालयों की भाषा उनकी अपनी जातीय भाषाएँ हैं।

अनेक देशों में अपनी भाषा के साथ जिस प्रकार एक विदेशी भाषा सिखाई जाती है, उसी प्रकार सोवियत सङ्घ के प्रजातत्रों में, सेकेंड और मिडिल स्कूलों में, रूसी भाषा अनिवार्य रूप में पढाई जाती है। सोवियत सङ्घ के प्रजातत्रों के लिए—जिनकी भाषाओ का विकास रुका हुआ

था—यह स्वाभाविक और जरूरी भी था कि संस्कृति और विज्ञान की उन्नति करने के लिए वे रूसी भाषा का अध्ययन करें। सोवियत सङ्घ अनेक जातियों का स्वेच्छा से बना हुआ सङ्घ है। इसलिए उनकी इच्छा के बिना, उनकी भाषा और संस्कृति के लिए हानिकारक, किसी भी तरह की भाषा-सम्बन्धी स्कीम वहाँ चल ही नहीं सकती।

१९१७ की महान् समाजवादी क्रान्ति ने रूसी साम्राज्य की तमाम जातियों को आजाद किया। उसने इन तमाम जातियों को अपनी भाषा और संस्कृति को विकसित करने का हक दिया।

सोवियत सरकार ने इस हक को शब्दों में ऐलान करके चुप्पी नहीं साध ली। उसने वे भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कीं जिनमें यह हक अमल में लाया जा सके।

सोवियत सरकार ने निरक्षरता के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। उसने देश में व्यापक शिक्षा-प्रचार किया जिससे लोग अपनी नयी पायी हुई आजादी से फायदा उठा कर अपना सामाजिक और सांस्कृतिक विकास कर सकें।

सोवियत सरकार ने छापेखानों को जनता की सम्पत्ति बनाकर करोड़ों की तादाद में किताबें छापीं जिससे साहित्य और संस्कृति सोवियत सङ्घ की तमाम जनता की सम्पत्ति बन सके। जारशाही रूस में पहले महायुद्ध के पहले अस्सी लाख विद्यार्थी स्कूलों में पढ़ते थे। सोवियत सङ्घ में दूसरे महायुद्ध के पहले तीन करोड़ दस लाख विद्यार्थी स्कूल जाते थे। सोवियत क्रांति के बाद उन्नीस साल में साढ़े चार करोड़ बालिगों को लिखना-पढ़ना सिखाया गया।

पहले महायुद्ध के समय ताजकिस्तान में सिर्फ चार फीसदी लोग पढ़े-लिखे थे। दूसरे महायुद्ध के बाद वहाँ पर बहत्तर फी सदी लोग पढ़े हुए थे। सोवियत सङ्घ की नई योजना के अनुसार १९५० के आखीर

तक एक लाख तिरानबे हजार ऐलीमेन्टरी और सेकेंडरी स्कूल हो जायँगे।

सोवियत बजट का २८ फीसदी हिस्सा शिक्षा और सस्कृति पर खर्च किया जाता है। (मास्को न्यूज, ११ अप्रैल १६४७ से ये आँकड़े दिये गये हैं।)

जाहिर है कि इतने विशाल शिक्षा-प्रचार से ही साहित्य और सस्कृति जनता की सम्पत्ति बन सकते हैं। इस शिक्षा-प्रचार के जरिए ही भाषा अपनी पूरी भूमिका अदा कर सकती है। लेनिन ने कहा था कि भाषा सामाजिक व्यवहार का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। सोवियत समाज मे भाषा का यह रूप पूरी तरह से निखर रहा है।

जारशाही रूस मे किताबो की सिर्फ पाँच-छः करोड़ प्रतियाँ सालाना छपती थी। १६४७ मे तैंतालिस करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबन्ध किया गया था। इस पर भी जनता की माँग पूरी नहीं हो पाती थी। अगर इससे दस गुनी किताबें छापी जाँय तो भी उनकी तुरन्त खपत हो जाय। मास्को मे दूकानों के सामने लोग वैसे ही पाँति बाँध कर खड़े होते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में सनीमा के टिकट लेने के लिए। बड़े-बड़े शहरों में किताबों के अलग बाजार लगते हैं। बढिया टीमो का फुटबाल मैच देखने के लिए जितनी भीड़ इकट्ठा होती है, उससे कहीं ज्यादा भीड़ इन किताबो के बाजारों में इकट्ठा होती है। (मास्को न्यूज़, १७ मई ४७)

किताबे छपते ही झटपट बिक जाती हैं और जो देर से पहुँचा, वह टापता ही रह जाता है। काताएव की पुस्तक 'फौज का पुत्र' ('सन आफ दि रेजीमेण्ट') की पन्द्रह हजार प्रतियाँ तीन घटों में बिक गईं।

राजनीति और कथा साहित्य की किताबे पचास हजार से लेकर एक लाख प्रतियों तक के सस्करण मे छपती हैं। फादाएव के उपन्यास 'नौजवान गार्ड' ('यग गार्ड') की चार लाख दस हजार प्रतियाँ सिर्फ

रूसी भाषा में छपी थीं। इसके अलावा यह किताब और दूसरी ७८ जबानों में भी छपी है। (मास्को न्यूज़ १७ मई, १९४७)।

प्रकाशन के साथ सोवियत सङ्घ के विशाल पुस्तकालय हैं जो जनता तक तरह-तरह की पुस्तकें पहुँचाते हैं। जारशाही रूस मे सिर्फ १२,६००० लाइब्रेरियाँ थीं जिनमें ८९ लाख पुस्तकें थीं। दूसरे महायुद्ध के पहले सोवियत सङ्घ में ७७,५९० लाइब्रेरियाँ थीं जिनमें १४,६८,०२,९०० पुस्तकें थीं।

इन तमाम बातो का असर रूसी भाषा के विकास पर भी पड़ा है। साहित्य की भाषा और जनता की भाषा दो अलग-अलग चीजें नहीं रह गई हैं। बोलचाल के मुहावरों ने रूसी भाषा को और समृद्ध किया है। सोवियत भाषा-वैज्ञानिक रूस की बोलियों का अध्ययन कर रहे हैं। रूसी बोलियों पर उन्होंने तेरह जिल्दों में एक विशाल ग्रन्थ निकालने की योजना बनाई है। रूसी भाषा को फ्रान्सीसी या और किसी विदेशी भाषा के मुकाबले मे अपढ़ गुलामो की जबान नहीं समझा जाता। स्वाधीन जाति की स्वाधीन भाषा के रूप में वह अपना विकास कर रही है। इसके साथ ही कालिज में पढ़ने वाले हर विद्यार्थी का अँग्रेजी, फासीसी या जर्मन में कम-से-कम एक विदेशी भाषा जानना जरूरी होता है। शिक्षा मत्री कफ्तानोव ने कहा था, 'जो आदमी विदेशी भाषाएँ नहीं जानता, उसे यह प्रत्यक्ष जानने का कम से कम अवसर मिलता है कि बाहर विज्ञान और कौशल मे क्या काम हो रहा है और इसलिए वह अपने क्षेत्र में ऊँचा विशेषज्ञ-नहीं हो सकता है।' ('मास्को न्यूज,' २८ मई १९४७)।

इसलिए विदेशी भाषाओं के अध्ययन की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता है। यह जहनियत पनपने नहीं दी जाती कि हम श्रेष्ठ हैं, इसलिए दूसरी भाषाओ का जानना जरूरी नहीं है।

रूसी के अलावा गैर-रूसी भाषाओं ने जो तरक्की की है, वह और आश्चर्यजनक है। कभी जिन्हें भाषा का दर्जा न दिया जाता था,

उनमें अब लाखों किताबें छपती हैं और हजारों स्कूलो में उन्हीं के जरिये शिक्षा दी जाती है। पहले उन जातियों को देखना चाहिए जो औद्योगिक विकास की मंजिल से कमोबेश गुजर चुकी थीं लेकिन जिनकी भाषा को जारशाही ने दबा रखा था।

ऐसी जातियों मे बेलोरूसियन जाति थी जिसे अपनी भाषा में शिक्षा पाने का हक नहीं था। १६१७ मे बेलोरूसियन जबान में एक भी किताब न छपी थी। १६४७ मे बेलोरूसी पुस्तको की एक करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबन्ध किया गया। (मास्को न्यूज, १७ मई' ४७)।

उक्रैनी जाति ने दूसरे महायुद्ध के पहले तक निरक्षरता को बिल्कुल खत्म कर दिया। उक्रैन के तीस हजार स्कूलों में बच्चे अपनी भाषा में शिक्षा पाते थे। उक्रैन मे २५,४८४ पुस्तकालय थे जहाँ से लोग पुस्तकें ले कर पढते थे। (मास्को न्यूज १६ नवम्बर १६४७)। १६४८ मे स्कूली किताबों की दो करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबध किया गया था। ये सब किताबें उक्रैनी जबान में थीं। (मास्को न्यूज, १७ अगस्त '४८)।

बेलोरूसियन, उक्रैनी आदि भाषा के अलावा दूसरी गैर-रूसी भाषाओं को भी उन्नति करने का पूरा मौका दिया गया। सोवियत लेखक-सघ मे रूसी लेखकों के अलावा और तमाम भाषाओं के लेखक शामिल हैं। इस लेखक सघ में ५४ भाषाओ के लेखक हैं। इनमे सब से बडी तादाद रूसी भाषा के लेखकों की है। सब से कम तादाद उत्तरी कौकेशस की अदीघी जाति के लेखकों की है। यह जाति सख्या मे बहुत कम है, लेकिन इसका भी एक प्रतिनिधि-लेखक सोवियत लेखक-सघ का सदस्य है। (मास्को न्यूज, ५ जून '४६)।

लिथुआनियन वह भाषा है जिसके भविष्य के बारे में भाषा वैज्ञानिक मेइये ने शका प्रकट की थी। लिथुआनिया के छोटे से प्रदेश मे ११ कालेज और विश्वविद्यालय हैं। विलनियस और कौनास की युनिव-

सिटियो मे लोग ऊँचे ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा पाते हैं। (मास्को न्यूज, ५ जुलाई '४७)।

एस्टोनिया की तारतू युनिवर्सिटी में ४०० शिक्षक हैं और वे सभी एस्टोनियन हैं। 'मास्को न्यूज' मे लीडिया बाख ने लिखा है :—

'तारतू विश्वविद्यालय मे एक भी रूसी प्रोफैसर नहीं हैं। सभी शिक्षक अपना शिक्षण और भाषण एस्टोनियन जबान मे करते हैं।' (मास्को न्यूज, २६ मई, '४७)। इससे पता चलता है कि एस्टोनियन भाषा ने कितनी उन्नति की होगी जो उसमे ऊँची से ऊँची विज्ञान और साहित्य की शिक्षा दी जा सकती है।

जारशाही रूस मे जार्जिया एक पिछड़ा हुआ उपनिवेश था। वहाँ की भाषा और सस्कृति पर बैन लगा रखा गया था। जार्जिया की भाषा मे एक भी स्कूली किताब न छपी थी। समाजवादी क्रान्ति के बाद जार्जिया के लोगो ने सोवियत रूस के लेखकों और भाषा वैज्ञानिकों की मदद से बड़ी तेजी से उन्नति की। सोवियत जार्जिया के लेखको ने स्कूली विद्यार्थियों के लिये ६५ मौलिक पुस्तकें लिखी हैं। लगभग इतनी ही पुस्तकें उन्होंने कालेजों मे ऊँची शिक्षा के लिये लिखी हैं। ये सब किताबें जार्जियन भाषा मे हैं। इनमे से कई किताबो का अनुवाद रूसी भाषा में भी हुआ है।

जार्जिया से निरक्षरता को बिल्कुल दूर कर दिया गया है। यहाँ की आबादी लगभग ३५ लाख है। हर मर्द-औरत पढ़ा लिखा है। ये लोग अपने यहाँ के लेखको की रचनाओं से ही परिचित नहीं हैं, विदेश के लेखकों की प्रसिद्ध रचनाएँ भी पढ चुके हैं। इलिया दुबिस्की ने लिखा है :—

'अगूर के बागीचों या चरागाहो मे भेंड़ चराते हुए भूरे रग के लड़के फेनीमूर कूपर या डिकिन्स की रचनाओं से उतने ही परिचित हैं जितने इगलैंड या अमरीका के बच्चे।' (मास्को न्यूज, १० फर्वरी '४६)।

जार्जिया के बच्चों ने यह सब साहित्य अपनी भाषा में पढ़ा है।

बर्दी कर्बाबायेव की तुर्कमीनिया मे, जहाँ पहले सटी के साथ मक्तब में मुल्ला अरबी रटाता था, अब दो लाख विद्यार्थी अपनी भाषा में स्कूली शिक्षा पाते हैं। तुर्कमीनिया का तीन-चौथाई हिस्सा काराकुम का रेगिस्तान है। १६३६ मे यहाँ की आबादी लगभग १३ लाख के थी। फिर भी यहाँ ७ ऊँचे शिक्षाकेन्द्र हैं, ४० रिसर्च सस्थाएँ हैं, अपने कवि, नाटककार और उपन्यास लेखक हैं जिनमे बर्दी कर्बाबायेव जैसे स्तालिन प्राइज विजेता भी हैं। (मौस्को न्यूज, १४ सितम्बर '४८)।

सोवियत सघ के उत्तरी इलाके मे समोयद, लोपारी, नेनेत्स, सामी आदि जातियाँ रहती हैं। जार-सरकार ने इन सब की एक राष्ट्र भाषा रूसी मान रक्खी थी। ये लोग किसी प्रदेश को अपना न कह सकते थे। छोटे-छोटे कबीलों में बँटे हुए वे जगह-जगह भटकते रहते थे। ये जातियाँ सबसे पिछडी हुई थीं जिनकी तरफ जारशाही नीति उन्हें नेस्त-नाबूद करने की ही थी।

चुकोत्स्क इलाका उत्तरी ध्रुव के पास है। बेरिंग का जलडमरूमध्य उसे अलास्का से अलग करता है। यहाँ पर चुकची, एस्किमो और एवेंकी जबानों में शिक्षा देने वाले ५५ स्कूल हैं। इनके लिये किताबें और दूसरा स्कूली सामान हवाई जहाज से पहुँचाया जाता है।

सोवियत भाषा वैज्ञानिको ने इन जातियो को लिपि ही नहीं दी बल्कि उनकी भाषा में पाठ्य पुस्तकें तैयार कराके और नयी सामाजिक आवश्यकताओ के अनकूल भाषा को विकसित करके एक बहुत बडा सामाजिक काम पूरा किया है।

अलेग्जेन्दर दूवानोव ने बताया है कि इनकी लिपि तैयार करने मे कैसी कठिनाई पडी। कुछ भाषाओं मे अपनी विचित्र ध्वनियाँ थीं, कुछ बोलियों में एक ही शब्द तरह-तरह से बोला जाता था। अन्त में रूसी वर्णमाला के आधार पर उत्तरी इलाके की तमाम जबानों के लिये ३६

अक्षरो की एक सी वर्णमाला चालू की गई। (सोवियत वीकली, २१ अगस्त '४७)।

इससे भी कठिन समस्या घुमन्तू कबीलों को एक जगह रोककर पढ़ाने की थी। आमतौर से ये लोग रेंडियर लिये घूमा करते थे। सोवियत सरकार ने बोर्डिङ्ग स्कूल खोले जहाँ रह कर विद्यार्थी शिक्षा जारी रख सकें। इसके अलावा ऐसे स्कूलो का भी इतजाम किया गया जो कबीलों के साथ-साथ चलें और बच्चो को शिक्षा देते रहें। स्कूलों की तादाद धीरे-धीरे कम होती गई।

लेकिन १६४७ में कुर्यांक जातीय प्रदेश मे इस तरह के दो नये घुमन्तू स्कूल खोले गये। इसका सबब यह था कि इस जाति के ६७ फी सदी लोग तो साक्षर हो चुके थे, लेकिन ३ फी सदी अब भी रेंडियरों के साथ घूमते रहते थे। वे निरक्षर थे। कुर्यांक प्रदेश की सरकार ने तै किया कि १६४७ के क्रान्ति दिवस तक एक भी आदमी निरक्षर न रह जायगा। इसलिए उन ३ फी सदी निरक्षरो के लिये घुमन्तू स्कूलो का इन्तजाम किया गया। (मौस्को न्यूज, १५ अक्तूबर, '४७)।

इन पिछड़ी हुई घुमन्तू जातियो मे—जिनके लिये जारशाही सिर्फ नेस्तनाबूद होने का प्रोग्राम रख सकी थी—अब लेखक, कवि और भाषा वैज्ञानिक पैदा हो रहे हैं।

गलगाता और अयोक्ता नाम के दो एस्किमो लेखकों ने अपनी जाति के लिये एक प्राइमर लिखी है। (उप०)

चुकची जाति के तिनेतीगिन नाम के लेखक ने रेंडियर चराने वाले अपने जातिभाइयों मे प्रचलित लोक-कथाओ का संग्रह किया है। (उप०)

नानाई जाति के प्रथम कवि, सोवियत कवि अकिम समार के कविता संग्रह की ३००० प्रतियाँ छापी गईं और इस छोटी-सी जाति के प्रायः हर घर मे उसकी एक-एक प्रति खरीदी गई। (सोवियत वीकली, २१ अगस्त '४७)

सोवियत सङ्घ की जातियाँ अपनी भाषा और सस्कृति की यह उन्नति इसलिये कर सकी है कि उन्होंने इस उन्नति की शत्रु ज़ारशाही और पूँजीवाद को खत्म कर दिया था।

इनके सङ्घर्ष की अगुवाई करने वाली मजदूर वर्ग की महान् क्रान्ति-पार्टी—लेनिन और स्तालिन की बोल्शेविक पार्टी—थी जिसने जातीय आत्म-निर्णय का झडा ऊँचा किया था। इस पार्टी का नेतृत्व स्तालिन कर रहे थे जिन्होंने जाति और भाषा के मसले पर हर जगह डट कर राष्ट्रवादी गुमराहियों का मुकाबला किया।

सोवियत सङ्घ में जातियो की सस्कृति और उनकी भाषाओं का निर्बाध विकास दिखाता है कि सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था खत्म होने पर उन्नति का कितना बड़ा रास्ता छोटी से छोटी और पिछड़ी से पिछड़ी जाति के लिये भी खुल जाता है।

सोवियत भाषाओं का विकास दिखाता है कि समाजवादी व्यवस्था मे आम जनता अपनी भाषा के जरिये जितनी उन्नति ३० साल में करती है, उतनी उन्नति वह सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था मे ३०० साल में भी नहीं कर सकती।

सोवियत सङ्घ की मिसाल बताती है कि समाजवाद के आधार पर जातियाँ जो एका कायम करती हैं, वह अटूट होता है। उस एके से उनकी उन्नति उस हालत से सौगुनी ज्यादा तेजी से होती है जब वे एक दूसरे से लड़ती रहती थी और इस तरह विदेशी साम्राज्यवादियों का हित साधती थीं।

सोवियत जातियों की एकता दिखाती है कि किसी देश में बहुत-सी भाषाओ का होना कोई दुर्घटना नही है जिस पर शोक किया जाय! समाजवादी व्यवस्था में बहुजातीय देश की भाषाएँ आजादी से फल-फूल कर एक दूसरे के विकास मे सहायक होती हैं।

हिन्दी का 'संस्कृतीकरण'

बहुत से लोगों का विचार है कि सस्कृत ने मृत भाषा का रूप इसलिये ले लिया कि पडितों ने उसे व्याकरण के नियमों से जकड दिया था। परन्तु व्याकरण और भाषा की सजीवता में कोई ऐसा अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता कि सस्कृत की मृत्यु के लिए व्याकरण को दोषी ठहराया जाय। अगर आज की जीवित भाषाओं को लें तो देखेंगे कि वे व्याकरण से कम अनुशासित नहीं हैं और किसी हद तक तो उनके व्याकरण में ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जो तर्कबुद्धि को स्वीकार ही नहीं होतीं। कौन नहीं जानता कि अँग्रेजी-व्याकरण बारह साल पढने के बाद भी भाषा में अशुद्धियाँ रह जाना एक साधारण बात है। फिर भी अँग्रेजी ससार की सबसे सजीव भाषाओ में से है। सस्कृत की अपेक्षा उसमें स्वच्छन्दता कहीं कम है। सस्कृत वाक्य रचना मे आप शब्दों का हेर-फेर कर सकते हैं—'एतद् मम पुस्तकम्' को मम, पुस्तकम्, एतद् किसी भी शब्द से प्रारभ करके लिख सकते हैं। लेकिन अँग्रेजी में 'दिस इज माई बुक' को 'इज दिस माई बुक' लिखकर देखिये कितना अतर हो जाता है। और कहीं 'बुक माई इज दिस' लिख दीजिये, तब तो वाक्य का कचूमर ही निकल जायगा। छोटे बच्चे अँगरेजी सीखते हुए अक्सर इस तरह की वाक्य रचना करते हैं। और बच्चे ही क्या, बालिग भी हिन्दी से अँगरेजी शुरू करते हैं, तो आरभ मे यही गलती करते हैं। अगर कोई समझे कि 'रामः रामौ रामाः' की रटत से अँगरेजी ही अच्छी तो उसे हिन्दी के 'राम से, राम में, राम पर' आदि रूप याद रखने चाहिये और बिहारी भाइयों की 'ने' सम्बन्धी कठिनाई को न भूल जाना चाहिये।

इसका यह मतलब नहीं है कि सस्कृत हिन्दी और अँग्रेजी दोनों से

सरल है और इसलिए उसे राष्ट्रभाषा बना देना चाहिये। ऊपर की बातें कहने का उद्देश्य यह है कि सस्कृत के मृत भाषा बनने का कारण व्याकरण नहीं कुछ और है। दरअसल सस्कृत कुछ गिने-चुने शिक्षितों की भाषा रह गयी थी और लोक-प्रचलित भाषा से इतनी दूर चली गयी थी कि आम जनता के लिए वह दुरूह हो गयी थी। उसका व्याकरण कितना भी सरल किया जाता, वह 'जीवित' भाषा का पद न पा सकती थी। अक्सर अनेक ग्राम भाषाओं का व्याकरण सस्कृत से कम कठिन नहीं होता, बल्कि उससे भी अधिक गहन और विस्तृत होता है, फिर भी ग्रामीण बच्चे बिना सूत्र घोखे हुए ही व्याकरण के अनुसार नित्य वाक्य रचना करते रहते हैं। फ्रास और स्पेन के कुछ भागों मे 'बास्क' नाम की ऐसी ही बोली आज भी प्रचलित है। उसका व्याकरण लैटिन से भी दुरूह बताया जाता है लेकिन लैटिन सस्कृत के पद को प्राप्त हुई और बास्क अब भी जीवित है। बास्क के लिए एक कहानी प्रचलित है कि खुदा ने शैतान पर खफा होकर उसे बास्क व्याकरण याद करने के लिए भेजा। सात साल तक परिश्रम करने के बाद भी शैतान कोरा का कोरा ही वापस लौटा।

व्याकरण की कठिनाई नयी भाषा सीखने वालों को महसूस होती है। जो उसे नित्य प्रति बोलते हैं, उनके लिए व्याकरण 'सीखने' का प्रश्न नहीं उठता।

इसी प्रकार कोश देखकर भी कोई हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी मे बातें नहीं करता। काफी दिन तक कोश निर्माण मे परिश्रम करने के बाद अधिकाश लोग यह समझ गये हैं कि हिन्दी उर्दू-हिन्दुस्तानी की समस्या का चाहे जो हल हो, वह कम से कम कोश निर्माण से हल नहीं हो सकती।

लेकिन कोशकार भला यह कब मानने वाले हैं! उनके लिये अमर-कोश पहले है, कालिदास बाद को। उनके लिये भाषा के बोलने वाले

बाद को हैं, उनकी कोश रचना पहले है। काजी जी दुबले क्यों, शहर के अन्देशे से। जनता क्या बोलेगी, वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, राजनीतिक नेता, आदि आदि किन शब्दों का प्रयोग करेंगे, इस अन्देशे से दुबले कोशकार मोटे-मोटे कोशों का निर्माण करने मे लगे हैं। कोश-रचना मे ऐसे शब्द नहीं रखे जाते जो व्यवहार मे आते हैं बल्कि ऐसे शब्द गढ़ कर रखे जाते हैं जो व्यवहार में लाये जायँगे। अगर 'जनता' की समझ और व्यवहार का जिक्र कीजिये तो जनता को मूर्ख और अशिक्षित कह कर भाषा के क्षेत्र से उसे निकाल बाहर किया जाता है और कोशकार दत्तचित्त फिर अपने शब्द-निर्माण मे लग जाते हैं।

छोटे से बड़े तक अनेक पडित-महापडित कई वर्षों से इस कार्य मे लगे हैं। हिन्दी मे लगे हैं और उर्दू मे लगे हैं और इनके साथ बँगला जैसी अन्य भाषाओ मे भी लगे हैं। इस हिसाब से हम इसे भारतीय साहित्य का कोश युग कह सकते हैं।

कोशकार अपने निर्दोष कार्य मे लगे रहते और उनके एकान्त चिन्तन मे बाधा देने की कोई जरूरत न थी अगर उनकी कोश-रचना आम जनता पर लादी जाने को न होती। जब उनके इस कार्य को सरकारी या अर्द्ध-सरकारी सरक्षण मिल जाता है, तब यह खतरा पैदा हो जाता है कि कचहरी-डाकखाने में हमे ऐसे कागज पत्र पढ़ने को मिलेंगे जिन्हें समझने के लिए भारी, भरकम कोश साथ लेकर चलना पड़ेगा।

कल्पना कीजिये—एक 'अपसर्जित' व्यक्ति अपने 'अपसर्जक' पर अभियोग लगाता है और 'अपसर्जक' का मित्र 'अपचय' करता है। आप अदालत मे 'प्रत्याख्यान' करते हैं। वकील 'अत्यय की अभ्युक्ति' करता है। इतने ही मे एक 'अपनयन' का मुकदमा और पेश होता है लेकिन मुकदमे का 'लबन' हो जाता है या 'विकृष्ट' हो जाता है। आपका 'अभिकर्त्ता' 'शपथ-पत्रक' देता है जिससे फिर 'व्यक्त विकर्षण' होता है। इसके बाद 'पुनर्वाद के अत्यय' की नौबत आती है और तब 'अपचारक'

से कहा जाता है कि 'इस बाद का व्यय बाद के परिणाम का अनुसरण करेगा ।'

यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं, तो इन शब्दों पर कुछ देर तक विचार कीजिए। यदि बिना अँग्रेज़ी और हिन्दी पर्यायवाची शब्दो के आप इनका मतलब समझ लेंगे तो 'वीर सराहौं तोहिं' हमे कहना पड़ेगा। ऊपर के शब्द उस कोश से लिये गये हैं जिसे उत्तर प्रदेश की सरकार और टेहरी राज्य की सहायता से नागरी-प्रचारिणी सभा तैयार कर रही है। बानगी के तौर पर कुछ शब्द २ जून १६४८ की अमृत बाजार पत्रिका मे छपे हैं। यदि नागरी प्रचारिणी सभा ऐसी ही हिन्दी का प्रचार करना चाहती है तो उसे लोगो को धोखे मे न डाल कर अपना नाम बदल डालना चाहिये।

इसमें सशय है कि ये शब्द सस्कृत मे भी उसी अर्थ मे प्रयुक्त होते थे जो कोशकारो को अँग्रेजी के आधार पर अभीष्ट हैं। यह सस्कृत और हिन्दी दोनों के साथ अन्याय है। इस तरह की भाषा को यू० पी० सरकार, टेहरी राज्य और नागरी प्रचारिणी सभा तीनों मिलकर और उन जैसे और दस-पाँच नहीं चला सकते क्योंकि ये शब्द जनता के गले से उतरेंगे नहीं। कोशकार भले ही आज जनता को अशिक्षित कह कर उसकी बोलचाल की भाषा की उपेक्षा करें, लेकिन यह कोश भाषा आखिर बोलवाना तो उसी जनता से है!

हिन्दी के इस 'सस्कृती करण' से हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर, उसका प्रान्तीय भाषा के रूप मे भी लोकप्रिय रहना कठिन हो जायगा। यह हिन्दी की सेवा करना नहीं, उसका गला घोटना है। हर हिन्दी प्रेमी को इसका विरोध करना चाहिये।

यह बात नही है कि सस्कृत से शब्द लेना एकदम बन्द कर देना चाहिये। लेकिन शब्द लेना एक बात है, भाषा को सस्कृतमय बना देना दूसरी बात है। इन कोशकारों की नजर मे हिन्दी का कोई स्वतन्त्र

अस्तित्व नहीं है। उसमें जो कुछ है और होना चाहिये, वह केवल संस्कृत का! इनके लिये मध्यकाल से लेकर अब तक केवल सांस्कृतिक पतन ही होता आया है और जितनी जल्दी सतयुग की तरफ लौट चलें, उतना ही अच्छा। यह हठ धर्म कुछ नया नहीं है। जब गो० तुलसीदास ने राम चरितमानस रचा था और पंडितगण उनकी रचना को 'भदेस' कह कर हँसते थे, तब से वह क्रम चला आ रहा है। योरप में इस प्रकार लैटिन के आगे 'वल्गर टंग' का मजाक उड़ाया जाता था लेकिन वही भदेस भाषाएँ संसार की सबसे समृद्ध भाषाएँ बन गयीं। वह पद हिन्दी भी प्राप्त करेगी लेकिन कोश-रचना और संस्कृतीकरण के रास्ते पर चल कर नहीं।

ऊपर की कोश-निर्मित शब्दावली सरल शब्दों में भी लिखी जा सकती है। लेकिन कोश प्रेमियों का कहना है कि सरल शब्दावली पारिभाषिक (टेकनिकल) कहाँ हुई! इस तरह हिन्दी को इतना पारिभाषिक बनाया जायगा कि वह 'भाषा' न रहकर केवल 'परिभाषा' रह जायगी!

हैदराबाद के स्वनामधन्य निजाम साहब उर्दू के लिये ऐसे ही कोश बनवा चुके हैं। उनसे उर्दू कितनी लोक-प्रिय हुई है, इस बात पर हिन्दी प्रेमियों को विचार करना चाहिये।

'सारे देश में समझी जाय'—इस बहाने हर भाषा के कठमुल्ले अपनी भाषा की जान लेने पर तुले हुए हैं।

पच्छिमी बंगाल की अत्यन्त प्रगतिशील सरकार के 'स्वराष्ट्र विभाग' ने सरकारी कामों के लिए 'व्यवहार्य परिभाषा' का पहला भाग प्रकाशित किया है। सरकार की तरफ से छपी हुई चीज है, इसलिये उसमें नुक्ता-चीनी की गुञ्जाइश भी कम है। आप 'परिभाषा' का जो मतलब लगाते हों, बंग सरकार ने उसका अर्थ 'शब्दावली' किया है, यह याद रखें।

इसके रचयिताओं में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का प्रसिद्ध नाम भी है। भूमिका में बताया गया है कि 'हिसाब' शब्द प्रचलित होते हुए भी

उसकी जगह 'गणन' और 'गणन' से 'गाणनिक' और 'महागाणनिक' शब्द रचे गये हैं ! रवीन्द्रनाथ के बगाल मे यह ललित पदावली रची जा रही है। इसी प्रकार 'अदालत' शब्द काफी सम्मानपूर्ण नही 'Not dignified enough' समझा गया है। इसलिये उसकी जगह 'धर्माधिकरण' सजाया गया है, जिसका नाम सुनते ही अपराधियों के छक्के छूट जायँ।

भूमिका में, भाषा-विज्ञान की यह अपूर्व बात भी कही गयी है— 'Bengali, Hindi, Marathi and the rest now depend upon Sanskrit—they are not free to utilise their own basic elements' यानी बँगला, हिन्दी, मराठी वगैरह को खुद अपने भीतर से शब्द-निर्माण करने की छूट नही है। उन्हे सस्कृत का ही मुँह जोहना पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में भाषा-विज्ञान ने कितनी प्रगति की है, यह ऊपर के इस एक वाक्य से प्रकट है, जिस पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी के हस्ताक्षर हैं।

नागरी प्रचारिणी के कोशकारों की सेवा मे हम इस बगीय 'परिभाषा' से कुछ शब्द पेश करते हैं। आप लोग अलग-अलग न जाने क्यो परिश्रम कर रहे हैं, हिन्दी-बँगला जब दोनो सस्कृत से लेती हैं, तब उनमे भेद कहाँ रहा ? आप्टे के शब्द कोष पर हिन्दी, बँगला लिख कर क्यो नही चालू कर देते ? बानगी देखिये—

न्यासपाल, महा-व्यावहारिक [सज्ञा है विशेषण न समझ लीजियेगा !], स्थपति, भाचित्रकार, कूपी धावक [यह बोतल धोने वाला है !], आत्ययिक, चक्रचर नियामक, दोहवर्धनआधिकारिक [डेरी से सम्बन्ध है], दुष्कृति विमर्श विभाग, उप-आयुक्तक, उप-प्रादेशिक परिवहण महाध्यक्ष, उप-आराध्याध्यक्ष, एध-अधिकर्ता, ताडित-उपदेष्टा, धूमोत्पात परिदर्शक, साधित्र रक्षक, लेख्य-प्रापक, राजस्व-करणिक, विक्रयिक, विशिष्ट मुद्रितक-उपदेष्टा, परियाण-करणिक अवर,

अन्तः शुल्क कृत्यक, शिल्प व समरण मत्रक, राष्ट्रभृत्यानियोगाधिकार, कन्या प्रणिधि, तूर्ण पत्र [एक्सप्रेस चिट्ठी] इत्यादि ।

इस शब्दावली के निर्माता जानते हैं कि उसे बगाल में कोई न समझेगा। इसलिये नौजवानों को आदेश दिया गया है कि जितना समय अँग्रेजी सीखने में लगाते हो, उसका चौथाई भी मातृभाषा [यानी सस्कृत] सीखने मे लगाओ तो ये अपरिचित शब्द उतने अपरिचित न रह जायँगे !

इन कोशकारों के लिये सबसे अच्छी सजा यही है कि इनसे इन्हीं के बनाये हुए कोश याद कराये जायँ। जहाँ भूलें वहाँ फिर याद करने की ताकीद कर दी जाय। जब हिंन्दी, बङ्गला आदि के कोशकार अपने-अपने कोश या एक सम्मिलित महाकोश याद कर डालें, तभी वह कोश जनता तक पहुँचे, उसके पहले नहीं ।

हिन्दी का सस्कृतीकरण पारिभाषिक शब्दो को लेकर ही नहीं है। साधारण साहित्य में, दैनिक और मासिक पत्रों आदि मे भी तत्सम शब्दों को इसलिये भरा जाता है कि इससे हिन्दी सुबोध हो जायगी—खुद हिन्दी बोलने वालों के लिये नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं के बोलने वालों के लिये ! मिसाल के लिये शायद बङ्गाल के लोग स स्कृत-बहुल हिन्दी को बोल-चाल की खिचड़ी भाषा से ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। देखना चाहिये कि बोल-चाल की बङ्गला में तत्सम शब्दों का अनुपात कैसा रहता है। इस पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी से ज्यादा कौन अधिकारी विद्वान् राय दे सकता है ? बङ्गला भाषा की उत्पत्ति और विकास पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के पहले भाग में उन्होने यह मत प्रकट किया है :—

'In Modern Bengali, the Colloquial has a surprisingly small 'percentage of Sanskrit words.' ('The Origin and Development 'of the Bengali Language, Vol. 1, p 221)

यानी बोलचाल की बँगला में स स्कृत शब्दों की तादाद असाधारण रूप से कम है !

हिन्दी पाठक इस वाक्य पर कुछ देर तक विचार करें । जिन अन्य भाषा-भाषियो की दुहाई देकर हिन्दी के हिन्दीपन को बिगाड कर उसे स स्कृतमयी बनाया जा रहा है, वे स्वय बङ्गाल जैसे प्रान्त में भी स स्कृत शब्दों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं ।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या बोलचाल की भाषा के नियमों को तोड़ कर हल नहीं की जा सकती । बोलचाल की भाषा में अँग्रेजी और फ़ारसी के शब्द भी आते हैं और सस्कृत से भी आते हैं । लेकिन आर्य स स्कृति के जोश में शुद्धतावादी केवल स स्कृत के तत्सम शब्दो को लेने पर तुले हुए हैं । वे यह भूल जाते हैं कि स्वय स स्कृत दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर समृद्ध होती रही थी । इस बात को सुनीति बाबू भी मानते हैं । उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है—'The Aryan speech has been borrowing words from the Dravidian ever since the former came to India' Ib p 178 अर्थात् 'आर्यों की भाषा हिन्दुस्तान में आने के बाद से ही द्राविड़ भाषाओं से बराबर शब्द उधार लेती रही है ।' लेकिन 'देववाणी' भले शब्द लेती रही हो, देशवाणी के कलजुगी समर्थक जोरों से हृदय कपाट बन्द किये हैं कि ·कहीं विदेशी हवा लगने से उनका देवत्व खडित न हो जाय ।

अगर कोई कहे कि 'इनकम टैक्स इन्स्पेक्टर, वारट, करेंसी, गार्जियन, रिपोर्ट, रिसीवर, समन, सबजज' आदि अँग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर लेना चाहिये और उनकी जगह नये शब्द न गढ़ने चाहिए तो यह राष्ट्र-भाषा के प्रति द्रोह कहा जायगा । लेकिन इन्हीं शब्दों को सुनीति बाबू ने अपनी पुस्तक में 'Typical naturalised English words' (पृ० ६४५-४८) कहा है । ये शब्द बँगला के अपने शब्द मान लिये गये हैं और यही नहीं, उनके साथ एग्जिबीशन,

वेटिंग-रूम, कौंसेल, गिरीमेंट (अग्रीमेट), नोटिस, बर्जाइस (बुर्जुआ), मरगिज, रजिस्ट्री, लिवर, हाफ साइड आदि शब्द भी बॅगला की स्वीकृत सम्पत्ति माने गये हैं। लेकिन बॅगला की 'व्यवहार्य परिभाषा' उठा कर देखिये तो इन्हीं शब्दो या इन जैसों के बदले डा० सुनीति कुमार और उनके सहयोगी नये-नये भारी-भरकम शब्द गढते दिखाई देंगे और खुद बगालियो के समझ मे न आने पर उनसे कहेंगे कि अपनी मातृ-भाषा सीखने में कुछ समय लगाओ।

इसी तरह अपनी पुस्तक के पृ० २१७ (खड १) पर उन्होने बैलेट, सेक्रेटरी, प्रिंटर, गज़ट, टाइमटेबल, रोमास, रोमाटिक, क्लासिक, ट्रैजिक, कॉमिक, आर्ट, फ्यूचरिज्म, सायस, प्रोटोप्लाज्म, प्लीस्टोसीन, लॉ, प्लॉट, केमिस्ट्री, फिजिक्स आदि शब्दों के लिये लिखा है कि वे 'are being bodily adopted at the present day,' यानी वे जैसे-के-तैसे बॅगला मे अवतार ले रहे हैं। लेकिन मजाल क्या कि वही सुनीति बाबू अब इनके लिये स स्कृत की किसी धातु से नया शब्द न गढ़ लें!

अपनी पुस्तक के पृ० २१२ (खड १) पर उन्होंने यह भी लिखा था कि बॅगला के मुसलमान लेखक ज्यादा स ख्या में आगे आ रहे हैं, इसलिये फारसी, अरबी के शब्दों का बॅगला मे आना बिल्कुल स्वाभाविक होगा ('will be in the nature of things') लेकिन 'व्यवहार्य परिभाषा' में इन स्वाभाविक रूप से आये हुये शब्दों को ढूँढने के लिये अब आपको खुर्दबीन की जरूरत पड़ेगी।

जिस तरह पूँजीवादी नेता चुनाव में किये हुए वादों को मन्त्री बनने पर भूल जाते हैं, वैसे ही 'रिवाइवलिज्म' के जोश में (आर्य स स्कृति के मोह मे) सुनीति बाबू जैसे भाषा वैज्ञानिक खुद अपने बनाये हुए सिद्धान्तों को भूल गये हैं। यह पूँजीवादी स स्कृति के ह्रास का चिन्ह है, उसके उत्थान का नहीं। यह रास्ता बॅगला और हिन्दी की उन्नति का नहीं, उनकी अवनति का है।

अगस्त १९४८

साहित्य के प्रति सिद्धान्तहीन और अराजनीतिक दृष्टिकोण

अपने इस प्रसिद्ध भाषण में ज्दानोव ने सोवियत पत्रिका लेनिनग्राद और 'ज्वेज्दा' के साथ-साथ अनेक सोवियत साहित्यकारो की कुछ खामियाँ भी बताई है जो मार्क्सवाद के विद्यार्थियो के लिये शिक्षाप्रद हैं।

ज्दानोव ने अपने इस भाषण मे कई बार यह माँग की है कि सोवियत साहित्य कला की दृष्टि से ऊँचा हो, वह सोवियत जनता के कला प्रेम को और ऊँचे स्तर पर ले जाय। इसलिये यह सवाल नही उठता कि कला की दृष्टि से नीचे दर्जे के साहित्य को मार्क्सवाद के अनुसार श्रेष्ठ माना जाय या नहीं। मार्क्सवाद बिना किसी शक-शुबहे के साहित्य मे ऊँचे दर्जे के कलात्मक सौंदर्य की माँग करता है।

सवाल दूसरा है। वह यह कि राजनीतिक और सिद्धान्तहीन साहित्य कलात्मक सौंदर्य के नाम पर श्रेष्ठ माना जा सकता है या नहीं। ज्दानोव ने इस बात का बहुत स्पष्ट जवाब दिया है। उनके अनुसार ऐसे साहित्य के श्रेष्ठ होने की बात तो दूर, उसे सोवियत सघ में टिकने को दो बीता जगह भी नहीं दी जा सकती।

ज्दानोव ने लेनिनवाद की इस मान्यता पर फिर से तीव्र प्रकाश डाला है कि साहित्य और कला 'पार्टिजन' हैं, वे वर्गों से सम्बद्ध हैं और वर्गों के सघर्ष मे उनका तटस्थ रहना असम्भव है। इसी मान्यता के आधार पर उन्होने सोवियत लेखकों से माँग की है कि वे पूँजीवादी आदर्शों का खडन करें और सामयिक यथार्थ के चित्र देकर समाजवाद की प्रगति में सहायक हों।

ज्दानोव ने दिखाया है कि 'ज्वेज्दा' में जिस तरह की रचनाएँ छपने लगी थीं, वे सोवियत जनता के लिये अहितकर थीं। सबसे पहले जौश्चेंको की रचना 'बन्दर की साहसिक यात्रा' को ज्दानोव ने लिया है। इस रचनाकार के सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है—'जौश्चेको को सोवियत जनता की मेहनत, उसके परिश्रम और वीरता से, उसके ऊँचे सामाजिक और नैतिक गुणों से कोई दिलचस्पी नहीं है। उसके यहाँ यह विषय हमेशा गायब रहता है। इस टुटपुँजिये और गन्दगी-पसन्द लेखक ने अपना पक्का विषय यह बना लिया है कि जिन्दगी की तुच्छ और नीची सतह को खोदे।'

लड़ाई के जमाने में जौश्चेको लेनिनग्राद छोड़कर आल्मा आटा चला गया था। लड़ाई के दौरान में उसने अपनी एक रचना 'सूर्योदय से पहले' मे सोवियत जनता को निर्लज्ज पशुओ जैसा चित्रित किया था। इस पर सोवियत पार्टी के सैद्धान्तिक मुखपत्र 'बोल्शेविक' में उसकी कड़ी आलोचना प्रकाशित हुई थी।

लड़ाई खत्म होने के बाद अपना वही रवैया जारी रखते हुए जौश्चेंको ने सोवियत समाज-व्यवस्था और सोवियत जनता पर कीचड़ उछाला और अपने इस 'करतब' को हास्यरस कहकर पेश किया। उसकी कहानी का नायक बन्दर सोवियत समाज का आलोचक बनकर आता है और उस पर, सोवियत समाज पर, रायजनी करता है। 'जौश्चेंको बन्दर के मुख से यह गन्दी, जहरीली, और सोवियत विरोधी बात कहलाना चाहता था कि आजादी से रहने के बदले अजायबघर में रहना अच्छा है और सोवियत जनता के बीच में साँस लेने से पिंजड़े में साँस लेना बेहतर है। यह कहलाने के लिये जरूरी था कि जौश्चेंको सोवियत जनता की जान-बूझकर तोडी-मरोड़ी, भोंड़ी और भद्दी तस्वीर पेश करे।'

नतीजा यह कि 'ज्वेज्दा' जैसी पत्रिका—जिसका काम सोवियत

नौजवानों को शिक्षित करना है—ऐसी रचनाओं को छापकर अपना काम पूरा नहीं कर सकी।

ज्दानोव ने बताया है कि जौश्चेंको की ये रचनाएँ आकस्मिक नहीं हैं। सन् '२० से ही उसकी जो सिद्धान्तहीन और अराजनीतिक विचार-धारा रही है, ये उसी का फल है। जौश्चेंको पहले 'सेरापियन गुट्ट' का सदस्य था और उसने अपने विचार यों प्रकट किये थे—'पार्टी वालों के विचार से मै एक सिद्धान्तहीन आदमी हूँ। बहुत ठीक। मै खुद अपने बारे में बयान दूँगा। मै कम्युनिस्ट नही हूँ, सामाजिक क्रान्तिकारी नहीं हूँ, न शाहपरस्त हूँ। मैं सिर्फ एक रूसी हूँ। इसके अलावा राजनीतिक दृष्टि से अनैतिक हूँ।

'मैं ईमान से कहता हूँ कि आज दिन तक मुझे नहीं मालूम [कि मै राजनीतिक दृष्टि से क्या हूँ]। लेकिन गुचकोव को लीजिये। गुचकोव किस पार्टी में है ? शैतान ही जाने वह किस पार्टी में है। मैं जानता हूँ, वह बोल्शेविक नहीं है। फिर सामाजिक क्रातिकारी है या कैडेट है, यह भी मै नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ।'

ज्दानोव ने ये उद्धरण देकर कहा है कि पच्चीस साल मे जौश्चेंको बदला नहीं है बल्कि इसी सिद्धान्तहीनता का प्रचार करता जाता है। लेव लुन्त्स नामक एक दूसरे 'सेरापियन गुट्ट' के सदस्य से भी ज्दानोव ने एक उद्धरण दिया है जिसमे वैसे ही सिद्धान्तहीन साहित्य का प्रचार किया गया है। लुन्त्स का कहना था—'हमे उपयोगितावाद नहीं चाहिये। हम प्रचार के लिये नही लिखते। कला जीवन के समान वास्तविक है और जीवन के समान ही वह निरुद्देश्य और निरर्थक है। उसका अस्तित्व इसीलिये है कि उसका अनस्तित्व सभव नहीं है।'

इस पर ज्दानोव ने टिप्पणी की है —

'सेरापियन गुट्ट के सदस्य कला के लिये यह भूमिका निश्चित करते हैं। वे कला से उसकी सैद्धान्तिक विषय-वस्तु (ideological content),

उसका सामाजिक महत्व, छीन लेते हैं। वे कला के सैद्धान्तिक छूछेपन का नारा बुलन्द करते हैं। 'कला कला के लिये' का निरर्थक और निरुद्देश्य कला का डका पीटते हैं। सचमुच, यह अराजनीतिकता, टुटपुँजियापन और गदगी का प्रचार है।'

ज्दानोव के वाक्यों से इस सवाल का स्पष्ट मार्क्सवादी जवाब मिल जाता है कि विषय-वस्तु में सिद्धातहीन होने पर क्या कोई साहित्यिक कृति प्रगतिशील हो सकती है। जाहिर है कि नहीं हो सकती।

जौश्चेंको की बात खत्म करते हुए ज्दानोव ने लिखा है कि—'यह हमारा काम नहीं है कि जौश्चेंको की इच्छाओं के अनुकूल अपनी जीवन-प्रणाली और समाज-व्यवस्था को फिर से बनायें। यह काम जौश्चेंको का है कि वह अपने को सुधारे। लेकिन अगर वह सुधरना नहीं चाहता तो वह सोवियत साहित्य से निकल जाय। सोवियत साहित्य मे सड़ी-गली, छूँछी, सिद्धातहीन और गदी रचनाओ के लिये जगह नही है।'

मार्क्सवाद का तकाजा है कि छूँछे और सिद्धातहीन साहित्य के हिमायतियों से ऐसी ही भाषा मे बात की जाय। आगे चलकर ज्दानोव ने इस बात को साफ कर दिया है कि इस तरह के मामलों मे क्यो मेल-मुलाहजा न बरतना चाहिये।

जौश्चेंको के बाद ज्दानोव ने अन्ना अख़्मातोवा की उन रचनाओं को लिया है जो लेनिनग्राद के पत्रो मे उद्धृत की जाती रही हैं। ज्दानोव ने अखमातोवा की रचनाओं को उद्धृत करना उस दर्जे की गलती बताई है जिस दर्जे की गलती पिछले जमाने के क्राति-विमुख और प्रतिक्रिया-वादी लेखकों की रचनाएँ उद्धृत करना होता।

१६०५ की रूसी क्राति के बाद बहुत-से बुद्धिजीवी क्राति से विमुख होकर अश्लील साहित्य और रहस्यवाद के उपासक बन गये थे। ज्दानोव ने उनका हुलिया बयान करते हुए कहा कि क्राति के खेमे से भाग कर प्रतिक्रियावादी दल मे शामिल होने वाले ये लेखक 'उन ऊँचे आदर्शों

की टोपी उतारने लगे जिनके लिये रूसी समाज का आगे बढ़ा हुआ और सबसे अच्छा हिस्सा लड़ रहा था। उस समय प्रतीकवादी, मूर्तिवादी (इमेजिस्ट), तरह-तरह के डिकेडेंट सामने आये। ये लोग जनता से इनकार करते थे, 'कला-कला के लिये' की हाँक लगाते थे, साहित्य में सैद्धान्तिक छूँछेपन का प्रचार करते थे। वे विषय-वस्तु से हीन सुन्दर रूप के पीछे अपने सैद्धान्तिक और नैतिक पतन को छिपाते थे'

कहना न होगा कि इस 'कौम' के लोग आजकल हिन्दी में भी बहुतायत से पाये जाते हैं। युद्ध काल मे और युद्ध के बाद जैसे-जैसे जनवादी सघर्ष तीखा बनता गया है, वैसे-वैसे अनेक लेखको के पैरो में भी कँपकँपी बढ़ने लगी है। कई महान् 'कलाकारो' को हमने जनता का खेमा छोड़कर प्रतिक्रियावादियो के दल मे शामिल होते देखा है। उनकी सीधी पहचान यह है कि वे जनवादी क्रान्ति का विरोध करते हैं और साहित्य को जनता के सक्रिय आन्दोलन से दूर रखना चाहते हैं। ज्दानोव का लेख बताता है कि किस तरह कला की रक्षा के बहाने ये लोग नाना वेष धर कर प्रगतिशील साहित्य का विरोध करते हैं।

अन्ना अख़्मातोवा इसी दल की प्रतिनिधि थी। प्रतीकवादी गुट्ट से 'ऐक्मेइस्ट' नाम का एक और गुट निकला जो सामाजिक जीवन से अपने को परे मान कर 'कला कला के लिये' की उपासना करता था। इसका वर्ग-आधार वह पूँजीवादी और अभिजात वर्ग था जिसकी मृत्यु बेला निकट आ पहुँची थी। इस गुट्ट के लेखक अपने अन्तस्तल मे पैठकर अन्तर्द्वन्द्व के मोती लाते थे। वे निराशा और परलोक का वेदना-सगीत अलापते थे।

ज्दानोव ने अख़्मातोवा की शायरी का परिचय इस प्रकार दिया है :—

'अख़्मातोवा की काव्य-वस्तु आद्योपान्त व्यक्तिवादी है। उसकी काव्य सीमा कुरूपता को छूती है। उसका काव्य एक ऐसी दीवानी औरत का

काव्य है जिसके सपने गिर्जाघर और शृङ्गार की कोठरी के बीच मॅडराते हैं। उसकी मूल काव्य-वस्तु शृङ्गार (amorous erotic motifs) है जिसके साथ वेदना, तड़पन, मौत, रहस्यवाद और विनाश की भावना गुॅथी हुई है। एक मिटते हुए वर्ग की चेतना के लिये आकुलता, मृत्यु-शय्या वाली निराशा की सिसकारी, विलास-शृङ्गार के साथ रहस्यवाद की अनुभूति—यह है अख़्मातोवा का आध्यात्मिक ससार ! पुरानी अभिजात सस्कृति की दुनिया का यह टुकड़ा है,—कैथराइन के उस 'स्वर्णयुग' का टुकड़ा जो अनन्त मे विलीन हो गया है और जो फिर लौट कर नही आ सकता।'

अख़्मातोवा के काव्य का सामाजिक आधार जो कि नष्ट हो गया है, अभिजात वर्ग और उसकी सस्कृति जो कि मिट चुके हैं, अख़्मातोवा उन सब के लिये सर्द आहें भरती हैं। ज्दानोव ने विस्तार से बताया है कि ऐक्मेइस्टि गुट्ट के लेखको ने रूस के जनवादी क्रान्तिकारी लेखको का किस तरह विरोध किया और किस तरह वे अपने सामाजिक आधार के साथ अतीत के गर्भ मे खो गये। इसलिये समाजवादी क्रान्ति के उन्नीस वर्ष बाद उनका फिर दिखाई देना 'म्यूजियम की अनोखी चीज' का दिखाई देना है। इन अनोखी चीजो को सोवियत साहित्य मे जगह मिले या न मिले, इस पर ज्दानोव ने यह साफ-सुथरी राय दी है :—

'हमारा साहित्य किसी का निजी रोजगार नही है जिसके लिये जरूरी हो कि सभी ग्राहको का दिल खुश करे। जिन लोगो के स्वभाव और रुचि मे और सोवियत जनता की नैतिकता और गुणो मे जमीन-आसमान का फर्क है, उनको अपने साहित्य मे जगह देने के लिए हम कतई मजबूर नही है। अख़्मातोवा की रचनाएँ हमारे नौजवानों को शिक्षा के नाम पर क्या दे सकती हैं ? नुक्सान के सिवा और कुछ नहीं। ये रचनाएँ केवल निराशावाद, उदासी, और पस्ती पैदा कर सकती हैं। उनसे सामाजिक जीवन के जरूरी सवालों से मुॅह फेरने का भाव पैदा हो सकता

है । उनसे यह प्रवृत्ति जाग सकती है कि सामाजिक जीवन और कार्यों की चौडी राह छोड़ कर व्यक्तिगत अनुभवो की सकुचित और छोटी सी दुनिया मे लोग घुस जायें ।'

अख्मातोवा के असर मे आकर सादोफेव और कोमिस्सरोवा आदि ने भी निराशा और एकान्त प्रेम पर रचनाएँ कीं । ज्दानोव ने कहा है कि अगर सोवियत नौजवान इसी तरह की रचनाएँ पढकर शिक्षा पाते, तो जर्मन फासिज्म के खिलाफ सोवियत देश विजयी न होता—'यही सबब है कि सोवियत राज्य और हमारी पार्टी ने सोवियत साहित्य की मदद से नौजवानों को प्रसन्नता और आत्मविश्वास की भावना मे पाला है और यही सबब है कि समाजवाद के निर्माण मे हमने विकट कठिनाइयो को हल किया और जर्मनों और जापानियो पर जीत हासिल की ।'

यहाँ पर सोवियत साहित्य का ध्येय साफ-साफ बता दिया गया है । उसका ध्येय ऐसे नागरिक तैयार करना है जो समाजवाद का निर्माण करने मे हर कठिनाई का सामना कर सके और देश पर हमला करने वाले दुश्मनो को पछाड़ सके । साहित्य की रचना इस महान् उद्देश्य को लेकर होती है, इसीलिये कलाप्रेम के नाम पर निरुद्देश्य या प्रतिक्रियावादी विचारो के साहित्य को जगह नहीं दी जा सकती ।

'ज्वेज्दा' पत्रिका में अख्मातोवा आदि की रचनाओ के साथ ऐसी रचनाएँ भी छपती थी जो पाठकों मे उत्साह, देशप्रेम और आत्मविश्वास की भावना जगाती थीं । इस तरह दो विरोधी प्रकार की रचनाओ को बराबर जगह देने से 'ज्वेज्दा' एक निर्देशहीन पत्रिका बन गई जो नौजवानो को अनैतिक बनाने मे दुश्मनो की सहायता करने लगी ।

यहाँ पर ज्दानोव ने मार्क्सवादी साहित्यिक पत्रिका का कर्तव्य बताया है कि वह निर्देशयुक्त हो या निर्देशहीन । अगर वह निर्देशहीन ('a journal without Direction') बनती है तो इससे जनवादी ताकतों के दुश्मनो का ही भला होता है ।

निर्देशहीन सम्पादन और निरुद्देश्य साहित्य-रचना ऐसी बाते हैं जो पूँजीवादी असर के बिना सभव नहीं है। ज्दानोव ने बताया है कि लेनिनग्राद के लेखक 'पच्छिम के मौजूदा पतित पूँजीवादी साहित्य पर जान देने लगे थे।'

कौमिनफार्म की पहली बैठक में सोवियत पार्टी की रिपोर्ट पेश करते हुए मालेकोव ने इस पूँजीवादी असर पर विस्तार से प्रकाश डाला था और बताया था कि पूँजीवादी ताकते किस तरह बुद्धिजीवियों मे अपना असर कायम करके खुफियागीरी के लिये जमीन तैयार करती हैं। जिन देशो में पूँजीवाद कायम है, उनके मार्क्सवादी लेखको में तो सौगुनी चौकसी दरकार है क्योंकि उनके चारों तरफ के वातावरण मे पूँजीवादी प्रचार छाया रहता है। ऐसे देशो के लेखकों के लिये सोवियत लेखकों का अनुभव मार्क्सवाद के लिये सोवियत साहित्य में सघर्ष का इतिहास बहुत बड़ा महत्व रखता है। वह उन्हें पूँजीवादी गुमराहियो से बचने मे सहायता दे सकता है।

ज्दानोव ने एक दूसरी खामी यह बताई है कि कुछ सोवियत लेखक सामयिक विषयो से हट कर ऐतिहासिक विषयो की तरफ एकागी ढङ्ग से झुक पड़े थे। इसके साथ ही मनबहलाव की छूँछी चीजें भी वे लिखने लगे थे। इसके लिये कुछ लोगो ने यह दलील दी थी कि अब वक्त आ गया है कि हम जनता को छूँछा, मनबहलाव का साहित्य दें। अब रचनाओ की सैद्धान्तिक विषय-वस्तु की तरफ ध्यान देना जरूरी नही है।

ज्दानोव ने इस दलील का जोरों से खडन किया है और माँग की है कि सोवियत लेखक युद्ध काल के अनुभव और उसके बाद के पुनर्निर्माण पर लिखे।

'लेनिनग्राद' पत्रिका की दूसरी गलतियो का उल्लेख करते हुए ज्दानोव ने पुश्किन की प्रसिद्ध रचना 'यूजेनी ओनेगिन' की एक पैरोडी का जिक्र किया है। खाजिन की इस व्यग्य-कविता का मतलब यह है कि

वह मौजूदा लेनिनग्राद की पुश्किन के सेंट पीटर्सबर्ग से तुलना करने की कोशिश करता है और यह दिखाना चाहता है कि हमारा युग ओनेगिन के युग से बदतर है।

इसी तरह रूस के महान् कवि नेक्रासोव की भी एक पैरोडी छपी थी जो उसकी स्मृति के लिये अपमानजनक थी।

इस तरह की रचनाओं का खोखलापन और सोवियत विरोधी रुख दिखाने के बाद ज्दानोव ने पूछा है कि लेनिनग्राद के निवासी जो वीरतापूर्वक अपने ध्वस्त नगर का फिर से निर्माण कर रहे हैं, कब तक इस निर्माण की कहानी सुनने की बाट जोहते रहेंगे। या लेनिनग्राद की वीर नारियाँ जिन्होंने जर्मनी से अपने नगर की रक्षा की और अब उसके पुनर्निर्माण का भार उठा रही हैं—अख्मातोवा की रचनाओं से क्या प्रेरणा पायेंगी।

इस तरह ज्दानोव ने साहित्य को सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ा है और साहित्यकारों से माँग की है कि वे इन्हें पूरा करने में अपनी रचनाओं से मदद करें।

सोवियत लेखकों से इस तरह की भूलें कैसे सभव हुईं, इस सवाल का साफ जवाब ज्दानोव ने यह दिया है 'इन गलतियों और खामियों की जड़ यह है कि इन पत्रिकाओं के सम्पादक, जो सोवियत साहित्य में सक्रिय भूमिका अदा करते हैं और लेनिनग्राद में सैद्धातिक मोर्चे के नेता भी हैं, साहित्य के बारे में लेनिनवाद की कुछ बुनियादी मान्यताओं को भूल गये हैं।'

इन मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए ज्दानोव ने सबसे पहले राजनीति और साहित्य के सबध को लिया है।

'बहुत से लेखक, जिनमें वे भी शामिल हैं जो जिम्मेदार सम्पादकों की हैसियत से काम करते हैं या लेखक सङ्घ में महत्वपूर्ण जगहों पर हैं, यह समझते हैं कि राजनीति तो सरकार या केन्द्रीय समिति की चीज है।

जहाँ तक लेखकों का सम्बन्ध है, राजनीति मे वक्त लगाना उनका काम नहीं है। अगर आदमी अच्छा लिखता है, कलात्मक और सुन्दर ढङ्ग से लिखता है तो उसकी रचना को चालू कर देना चाहिये, भले ही उसमे ऐसे सड़े-गले टुकड़े हों जो नौजवानों के मन मे जहर घोले और उनका दृष्टिकोण भ्रष्ट करे। हम माँग करते हैं कि हमारे साथी—वे जो साहित्य क्षेत्र मे नेतृत्व करते है और वे जो लिखते हैं,—उस चीज से अपना रास्ता पहचानें जिसके बिना सोवियत-व्यवस्था जिन्दा नहीं रह सकती, यानी राजनीति से। तभी हमारे नौजवान राम भरोसे न छोड़े जाकर सिद्धान्त-हीनता मे न पनपेंगे, बल्कि सशक्त और क्रान्तिकारी भावना मे बढ़ेंगे।'

ज्दानोव ने उन्नीसवी सदी के जनवादी क्रान्तिकारी रूसी लेखकों का हवाला देते हुए बताया है कि उनमे किसी ने भी 'शुद्धकला' या 'कला कला के लिये' का समर्थन नही किया। लेनिनवाद ने इस क्रान्तिकारी परम्परा को अपने में समेट लिया है। इस परम्परा के अनुसार कला का रूप यह होना चाहिये—'एक लड़ाकू कला, जो जनता के श्रेष्ठ आदर्शों के लिये सघर्ष करती हो—कला और साहित्य के सम्बन्ध में रूसी साहित्य के महान् प्रतिनिधियो की यही धारणा रही है।'

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा इस परम्परा को आगे बढाती है और वह 'हमेशा यथार्थवादी, सामाजिक रूप से निर्देश पायी हुई कला की हिमायती रही है'—The champion of realistic, socially directed art.'

लेनिन ने साहित्य और कला के प्रति मार्क्सवादी रुख स्पष्ट किया था। ज्दानोव ने १६०५ में लिखे हुए उनके 'पार्टी सङ्गठन और पार्टी साहित्य' नामक लेख का जिक्र किया है जिसमे लेनिन ने कहा था कि—'साहित्य गैर-पार्टीजन नहीं हो सकता, उसे सर्वहारा लक्ष्य का महत्वपूर्ण अग बनना चाहिए।'

ज्दानोव ने लेनिन के ये प्रसिद्ध वाक्य उद्धृत किये हैं—'साहित्य को पार्टीजन होना चाहिये। पूँजीवादी रूपो का मुकाबला करने के लिये, पूँजीपतियों की पैसा-कमाऊ और रोजगारी प्रेस का मुकाबला करने के लिये, साहित्य मे पूँजीवादी पेशेवर तरक्की [Careerism] व्यक्तिवाद, 'सज्जनो की अराजकता' और नफाखोरी का मुकाबला करने के लिये समाजवादी सर्वहारा वर्ग को पार्टी-साहित्य का सिद्धान्त आगे रखना चाहिये, उसे इस सिद्धान्त को विकसित करना चाहिये और यथासम्भव पूर्ण और सर्वाङ्गीण रूप से उसे चरितार्थ करना चाहिये।

'पार्टी-साहित्य का सिद्धान्त क्या है? यही नहीं कि समाजवादी सर्वहारा के लिये साहित्य-सेवा व्यक्तियों या गुटो के निजी लाभ का साधन नही बन सकती, बल्कि यह भी कि आमतौर से यह साहित्य सेवा समूचे सर्वहारा उद्देश्य नहीं हो सकती! गैरपार्टीजन लेखक मुर्दाबाद! साहित्य-सेवा को आम सर्वहारा उद्देश्य का अग बनना चाहिये

'समाज मे रहना और उससे स्वतन्त्र भी होना नामुमकिन है। पूँजीवादी लेखक, कलाकार, या अभिनेत्री की आजादी, घूस, तनख्वाह या सेठ की गुलामी है जो मुँदी हुई है (या जिसे बेईमानी से मूँदा गया है)।'

इस पर ज्दानोव ने टिप्पणी देकर साहित्य के प्रति मार्क्सवादी लेखकों के राजनीतिक दृष्टिकोण पर फिर जोर दिया है—'लेनिनवाद की भिन्नता इस बात मे है कि हमारा साहित्य अराजनीतिक नही हो सकता, वह 'कला कला के लिये' वाला नही हो सकता। इसके बदले उससे माँग की जाती है कि सामाजिक जीवन में वह अग्रदल का काम करे। इसीलिये साहित्य मे लेनिनवाद का सिद्धात पार्टिजन बनने का है। साहित्य-विज्ञान को लेनिन की यह बहुत महत्वपूर्ण देन है।'

लेनिन ने अपना लेख १६०५ के अत मे लिखा था, उस समय जब कि रूस के बुद्धिजीवी फिसल रहे थे और बहुत से लेखक जनता का दल

छोड़कर प्रतिक्रिया वादियों के दल में शामिल हो रहे थे। लेनिन ने पार्टीजन साहित्य का नारा उस समय दिया था जब पूँजीवाद कायम था और जब सर्वहारावर्ग उसे खत्म करने की अपनी पहली कोशिश में नाकामयाब रहा था।

इससे जाहिर है कि पार्टीजन साहित्य के सिद्धात को सोवियत समाज का सिद्धात कह कर, और इस बहाने कि हमारे यहाँ तो वैसा समाज कायम नहीं हुआ, टाला नहीं जा सकता। इसके विपरीत पूँजीवादी समाज के लिये तो वह सिद्धात सौ गुना सही है। ज्दानोव ने उस सिद्धात की तरफ फिर ध्यान खींचकर साबित किया है कि चालीस साल बाद भी मार्क्सवादी लेखको के लिये उसका पालन करना अनिवार्य है। ऐसा साहित्य जो सर्वहारा उद्देश्य का अग नहीं बन गया, मार्क्सवादी कहलाने का हकदार नही हो सकता।

इसके बाद ज्दानोव ने स्तालिन की उस उक्ति की तरफ ध्यान खींचा है जिसमे लेखकों को 'मानव हृदय का इजिनियर' कहा गया है। इससे सोवियत लेखकों की भारी जिम्मेदारी का पता चलता है।

ज्दानोव ने उन लोगो की खबर ली है जो समझते हैं कि 'पैदावार में बरबादी' हो तो अक्षम्य है, लेकिन साहित्य मे बरबादी हो तो वैसी कोई बात नहीं है। ज्दानोव पूछते हैं—'लेकिन दरअसल पैदावार में अपना काम न पूरा करने से क्या वह ज्यादा बडा अपराध नही है ?'

इसीलिये सोवियत पार्टी की केन्द्रीय समिति ने और मोर्चों के बराबर लाने के लिये साहित्य और विचारो के मोर्चे की तरफ भी ध्यान दिया है।

कुछ दूसरे लेखकों की दलील थी कि लड़ाई के जमाने मे पढने-भर को साहित्य नहीं छपा, अतः पाठकों को जो कुछ भी दिया जायगा, उसी से वे प्रसन्न होंगे। लेकिन 'सोवियत जनता लेखको से ऊँची माँग करती है, वह अपने सैद्धान्तिक और सास्कृतिक हकों की पूर्ति चाहती है।'

साहित्य का उद्देश्य जनता की माँगों को पूरा करना ही है या उसकी अभिरुचि को और निखारना भी है, ज्दानोव ने इस सवाल का जवाब यह दिया है कि साहित्य को जनता की अभिरुचि निखारनी चाहिये और उसे नये विचारो से समृद्ध करना चाहिये।

लेनिनग्राद के लेखकों की एक दूसरी गलती ज्दानोव ने यह बताई है कि वे सैद्धातिक आलोचना के बदले आपस मे दोस्ताने से काम लेने लगे थे। इससे बहुत बड़ा नुक्सान हुआ—'बिना आलोचना के कोई भी सङ्गठन—साहित्यिक सङ्गठन भी—पतन की तरफ चला जायगा। आलोचना के बिना किसी भी रोग के कीटाणु भीतर प्रवेश कर जायँगे और उनसे निपटना मुश्किल हो जायगा। खुली और दो-टूक आलोचना से ही हमारी जनता को आत्म-सुधार करने मे मदद मिलती है ऐसी आलोचना से ही उसे आगे बढ़ने और अपनी स्वामियों को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। जहाँ आलोचना नहीं होती, वहाँ ठहराव और सडाँध फैलती है और प्रगति के लिये गुञ्जाइश नहीं रहती।'

आलोचना से बचने वालों के लिये सोवियत समाज मे स्थान नहीं है। अपनी और दूसरो की आलोचना समाज को आगे बढ़ाने वाली मुख्य शक्ति बन जाती है। योग्य नागरिक से आशा की जाती है कि वह अपने काम की खुद जाँच करे, हिम्मत से अपनी खामियों की आलोचना करे और इस तरह हमेशा अपने को सुधारता रहे।

ज्दानोव ने इस नियम को लेखको के लिये भी अनिवार्य बताया है और कहा है—'जो भी अपनी रचनाओं की आलोचना करने से डरता है, वह क्षुद्र कायर है और जनता से सम्मान पाने का कुछ अधिकारी नहीं है।'

इसीलिये सैद्धातिक आलोचना के बदले दोस्ती का निबाह साहित्यिक प्रगति के लिये घातक है। दरअसल यह दोस्ताने का भाव भी साहित्य के प्रति अराजनीतिक दृष्टिकोण से ही पैदा होता है।

ज्दानोव ने सम्पादको के काम करने के ढग मे भी गलतियाँ दिखाई हैं। उनकी जिम्मेदारी स्पष्ट न होने से एक का भार दूसरे के कधों पर टलता रहा।

लेनिनग्राद शहर से बोल्शेविक पार्टी के पुराने सम्बन्ध का जिक्र करते हुए ज्दानोव ने वहाँ के लेखको को सैद्धातिक कार्यकर्ताओ की अगली पाँति मे खड़े होने का निमन्त्रण दिया।

भाषण के आखिरी हिस्से मे सोवियत जनता और लेखको के बारे मे कुछ बडी मार्मिक और स्मरणीय बाते कही गयी हैं। पूँजीवादी चाटुकारो के मुँह पर ये इतने तमाचे हैं जो सोवियत साहित्य और सोवियत समाज पर कीचड़ उछालने के लिये पुरस्कार रूप में उन्हे मिलने चाहिये। इसके साथ ही ये वाक्य उन सभी लेखको का माथा ऊँचा करते हैं जो अपनी कला का उपयोग मानव-समाज की प्रगति के लिये करते हैं :—

'विचारो की सम्पत्ति भौतिक सम्पत्ति से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कल क्या होगा, इससे बेखबर होकर न तो भौतिक पैदावार मे और न विचारो के क्षेत्र मे हम जिन्दा रह सकते हैं।

'साथियो, हमारा साहित्य जनता के लिये, देश के लिये जीता है और उसी के लिये उसे जीना चाहिये। साहित्य का ध्येय जनता का ही ध्येय है। इसीलिये तुम्हारी हर सफलता को, हर महत्वपूर्ण रचना को जनता अपनी ही सफलता समझती है। इसीलिये हम हर सफल रचना की तुलना युद्ध या आर्थिक मोर्चे की बड़ी जीत से कर सकते हैं। इसके साथ ही सोवियत साहित्य की हर असफलता जनता, पार्टी और राज्य को कड़वी लगती है और बुरी तरह अखरती है।

'तुम सैद्धान्तिक मोर्चे की पहली पाँति मे खड़े हो। तुम पर अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के बहुत बड़े काम पूरे करने की जिम्मेदारी है। इस बात से हर सच्चे सोवियत लेखक को जनता, पार्टी और राज्य की तरफ

अपनी जिम्मेदारी और भी ज्यादा महसूस करनी चाहिये और उसे अपने कर्तव्य का महत्व और ज्यादा समझना चाहिये।'

सोवियत सङ्घ की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सफलताओ से साम्राज्यवादी परेशान होकर किस तरह सोवियत सङ्घ पर कीचड़ उछालते हैं, यह बताने के बाद ज्दानोव सोवियत लेखकों से कहते हैं कि इनको घूँसा-दर-घूँसा जवाब ही नहीं देना है, बल्कि पूँजीवादी सस्कृति के खोखलेपन का पर्दाफाश भी करना है।

पूँजीवादी कला के बारे मे ज्दानोव ने कहा—'पच्छिमी यूरोप और अमरीका के आधुनिक फैशनेबल लेखको की रचनाएँ ऊपर से चाहे जितनी रगी-चुनी हों, फिल्म और थियेटर के निर्देशकों की कृतियाँ चाहे जितनी सुघर मालूम पडती हों, वे पूँजीवादी सस्कृति को न तो उन्नत बना सकती हैं, न उसकी प्राण-रक्षा कर सकती हैं। इन रचनाओ की नैतिक बुनियाद सड़ी हुई और घातक है। यह कला व्यक्तिगत पूँजीवादी सम्पत्ति की चाकरी करती हैं, समाज के उच्च पूँजीवादी तबकों के स्वार्थी हितों की सेवा करती है। झुड के झुड पूँजीवादी लेखक फिल्म और थियेटर निर्देशक समाज के अग्रसर लेखकों का ध्यान राजनीतिक और सामाजिक सङ्घर्ष के सवालों से हटाकर ओछे और सैद्धान्तिक रूप से छूँछे साहित्य और कला की ओर ले जाना चाहते हैं। ऐसे साहित्य और कला मे गुडों, हरजाइयों, पर नारी प्रेम और तमाम तरह की गुडा-हरकतों और किस्सों की बाढ रहती है।'

पूँजीवादी लेखकों की यह कोशिश है कि समाज के अग्रसर लोगों का ध्यान राजनीतिक और सामाजिक सङ्घर्ष से हट जाय। यही सबब है कि आजकल हर देश में साहित्य और शाश्वत मूल्यो का सवाल एक खास ढङ्ग से उठाया जा रहा है। ऐसे सवालो को उठाने वालो के साहित्य प्रेम की कसौटी यह है कि मौजूदा राजनीतिक और सामाजिक सङ्घर्ष को वह साहित्य में किस तरह और कौन-सी जगह देते हैं। ६६

फीसदी उनकी कोशिशे इसीलिये होती हैं कि वे साहित्य को सङ्घर्ष के रास्ते से दूर ले जाकर उसे अराजनीतिक और सिद्धान्तहीन बना दें या पूँजीवादी राजनीति का पिछलगुआ बना दे। १ फीसदी मे वे लोग हैं जो साहित्य और सामाजिक यथार्थ पर मार्क्सवाद की मान्यताओ के बारे मे उलझन मे हैं।

ज्दानोव ने यह घोषणा की है कि सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने समृद्धिकाल मे जिस कोटि की कलात्मक रचनाएँ की हैं, समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठ कृतियाँ उन रचनाओ से बहुत आगे निकल जायँगी।

अन्त मे बोल्शेविक पार्टी साहित्य को क्यों इतना महत्व देती है, इस बारे मे ज्दानोव ने कहा—'हमारी जनता, राज्य और पार्टी यह नहीं चाहती कि साहित्य सामयिक जीवन से परे हट जाय बल्कि यह चाहती है कि वह सोवियत जीवन के हर अग मे सक्रिय रूप से दखल करे। बोल्शेविक लोग साहित्य को बहुत मूल्यवान समझते हैं। जनता की नैतिक और राजनीतिक एकता को मजबूत बनाने में जनता को शिक्षित और सुगठित करने मे वे साहित्य की महान् ऐतिहासिक भूमिका और उसके मिशन को साफ-साफ देखते हैं। पार्टी की केन्द्रीय समिति चाहती है कि विचार क्षेत्र की यह सस्कृति खूब समृद्ध हो क्योकि इस सम्पति को बढ़ाना समाजवाद के प्रमुख लक्ष्यो मे से है।'

साहित्य में संयुक्त मोर्चे की समस्याएँ

साहित्य मे सयुक्त मोर्चे का सवाल देश काल से परे नही है। आज वह किन्ही ठोस राष्ट्रीय परिस्थितियो में उठाया जा रहा है। इन परिस्थितियो की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की मुख्य विशेषता यह है कि युद्ध और शान्ति की शक्तियो में शान्ति की शक्तियाँ ज्यादा मजबूत हैं। दूसरे महायुद्ध में सोवियत सङ्घ ने फासिस्ट राज्यों को परास्त किया जिससे साम्राज्यवादी व्यवस्था कमजोर हो गई। युद्ध के बाद सोवियत सङ्घ कमजोर नही हुआ बल्कि पहले से भी वह ज्यादा शक्तिशाली बन गया। पूर्वी यूरोप मे नये जनतन्त्रों का निर्माण हुआ, चीन की जनता ने ऐतिहासिक विजय प्राप्त की। पराधीन देशो के स्वाधीनता आन्दोलन तेजी से आगे बढे। समूचे ससार मे एक विशाल शान्ति आन्दोलन सङ्गठित होकर आततइयो से शान्ति की रक्षा करने में प्रयत्नशील है। दूसरे महायुद्ध में सोवियत सङ्घ की वीरता और बलिदान के फलस्वरूप शान्ति और जनतन्त्र की शक्तियाँ इतनी बलवती हो गयी हैं कि वे अब ससार में स्थायी शान्ति कायम कर सकती हैं।

दूसरी तरफ साम्राज्यवादी खेमे का भीतरी सङ्कट तीव्र हो रहा है। अमरीकी इजारेदारों की बेहिसाब मुनाफा कमाने की नीति खुद अमरीकी जनता और बाकी तमाम देशो की जनता के हितो से टक्कर खाती है। अमरीकी साम्राज्यवाद का बैंक दिवालिया होकर जिस दिन बैठेगा उस दिन यूरोप और एशिया के बहुत-से इजारेदारों के चूल्हे भी ठढे हो जायँगे। साम्राज्यवादी खेमे के सहयोगियों का एका लुटेरो का-सा एका है जो दूसरों को लूटने के साथ-साथ एक दूसरे को भी लूटने की ताक में

रहते हैं। इसलिए जहाँ शान्ति के खेमे का एका मजबूत होता जाता है वहाँ साम्राज्यवादी खेमे का एका कमजोर होता जाता है। अमरीकी जग-बाजो और उनके सहायको की नीति आज प्रत्येक देश की जनता के आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक हितों से टकराती है। इसलिए किसी भी देश मे कोई भी राजनीतिक, सॉंस्कृतिक और आर्थिक आन्दोलन—अगर वह जनता के हित मे है, तो—विश्वशान्ति आन्दोलन का अग बने बिना नहीं रह सकता।

युद्ध के खेमे के सिरे पर अमरीका है। शान्ति के खेमे के सिरे पर सोवियत सङ्घ है। शान्ति की शक्तियाँ युद्ध की शक्तियो पर विजय पा सकती हैं—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की यह ऐतिहासिक सच्चाई है।

चीन की विशाल जनता का स्वाधीनता आन्दोलन चेयरमैन माओ से तुङ्ग के नेतृत्व मे महान विजय प्राप्त करके एशिया में साम्राज्यवाद को और भी कमजोर बना चुका है। चीनी प्रजातन्त्र एशिया में शान्ति और स्वाधीनता का प्रहरी है। फ्रासीसी, डच, ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्य-वाद के खिलाफ दक्षिण-पूर्वी एशिया के स्वाधीनता आन्दोलन विजयी चीन से बल प्राप्त करते हैं और अपने सङ्घर्ष से विश्व-शान्ति के खेमे को मजबूत बनाते हैं। तमाम एशिया की जनता की लड़ाई साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मिली-जुली लड़ाई है। इसलिए कोरिया की वीर जनता का स्वाधीनता-सग्राम वियतनाम की जनता को मदद पहुँचाता है। और वियतनाम की जनता का स्वाधीनता-संग्राम कोरिया की जनता को मदद पहुँचाता है। ये स्वाधीनता-सग्राम साम्राज्यवाद के खिलाफ हैं, इसलिए साम्राज्यवाद का साथ देने वालो के भी खिलाफ हैं।

वे नये जनतन्त्र के आन्दोलन हैं जिनमें साम्राज्यवादियों से मिले हुए पूँजीपतियों और सामन्ती अवशेषों की शक्ति छीन ली जायगी।

दूसरे महायुद्ध के बाद उपनिवेशों और पराधीन देशों का शक्ति-

शाली स्वाधीनता-आन्दोलन अतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की दूसरी मुख्य विशेषता है।

एशिया के पराधीन देशों और उपनिवेशो मे साहित्य का सयुक्त मोर्चा जनता के विशाल साम्राज्यविरोधी, सामन्त-विरोधी मोर्चे के सङ्घर्ष और उसकी विजय में सहायक होता है।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय परिस्थिति की विशेषता क्या है? हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय परिस्थिति की विशेषता यह है कि यहाँ पर से न तो साम्राज्य-वादी शोषण खत्म हुआ है, न सामन्ती अवशेष खत्म हुए ह। १५ अगस्त सन् ४७ के बाद बडे पूँजीपतियों के और साम्राज्य का गठबन्धन जरूर पक्का हो गया है। इस तारीख के पहले साम्राज्यवाद के नजदीकी साथी होते हुए भी बड़े पूँजीपति मोल-भाव करने मे लगे हुए थे। अब उनका सौदा पक्का हो गया और वे राष्ट्र-विरोधी दुश्मनों के साथी बन गये। इसका यह मतलब नही है कि साम्राज्यवाद और हिन्दुस्तान के बड़े पूँजीपतियों के अन्तर्विरोध मिट गये हैं या वे स्वाधीनता आन्दोलन के लिए कमोबेश महत्त्व नहीं रखते। मुख्य बात यह है कि सन् '४८ मे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन ने एक नयी मजिल में पैर रखा जिसमे बड़े पूँजीपतियो और उनके प्रतिनिधि नेताओं ने जनता के साथ विश्वासघात करके साम्राज्यवाद का साथ दिया और यह ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य हो गया कि मजदूर वर्ग सच्ची स्वाधीनता और जनतत्र की प्राप्ति के लिए तमाम जनता का सयुक्त मोर्चा बनाये और स्वाधीनता आन्दोलन को विजय की मजिल तक ले जाय।

साहित्य में सयुक्त मोर्चा बनाने का सवाल इस नयी मजिल में उठ रहा है। यह सयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद, बड़े पूँजीपतियों और सामन्ती शक्तियों के खिलाफ होगा—यह किसी व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है। इसका फैसला इतिहास ने कर दिया है और इतिहास ने ही हिन्दुस्तान के मजदूर वर्ग को जन्म देकर उस पर यह जिम्मेदारी डाली

है कि जिस काम को पूजीपति पूरा नहीं कर सकते, उसे वह पूरा करे यानी स्वाधीनता-आन्दोलन का दृढता से अन्त तक नेतृत्व करे।

साहित्य का सयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद, बड़े पूँजीपतियो और सामती अवशेषो की राजनीति और अर्थनीति का ही विरोधी नही है, वह उनकी सस्कृति और विचारधारा का भी विरोधी है क्योकि यह सस्कृति और विचारधारा साम्राज्यवाद और उसके सहायको के कायम रहने मे मदद देती है। यही नहीं, सयुक्त मोर्चे के ढुलमुल या अस्थायी सहायकों—मध्यम पूँजीपतियो—की विचारधारा और पूँजीवादी सस्कृति का विरोध करना भी सयुक्त मोर्चे के लेखकों का फर्ज है। पूँजीवादी सस्कृति सारी दुनिया के पैमाने पर पतनशील है और भारत के पूँजीपतियो की सस्कृति उस विश्वपूँजीवादी सस्कृति का एक अग है। इसलिए साहित्य के सयुक्त मोर्चे मे जिन लोगो की सस्कृति को बर्दाश्त करने और उनकी विचारधारा को धीरे-धीरे सुधारने का सवाल उठता है, वे मध्यम वर्ग, दस्तकार, कारीगर, धनी किसान, मध्यम किसान वगैरह है।

चीन मे जिन दिनो जापान विरोधी स्वाधीनता-सग्राम चल रहा था, उन दिनो बहुत से पूजीपति और जमींदार राजनीतिक सयुक्त मोर्चे में शामिल थे। इनके बारे मे चेयरमैन माओ से तुङ्ग की हिदायत थी कि उनका साहित्य और बाकी जनता का साहित्य अलग-अलग है। येनान मे उन्होने कहा था—'हमे उन जमींदारो और पूँजीपतियो से सहयोग करना चाहिये जो अभी जापानियो का विरोध कर रहे हैं लेकिन यह ध्यान मे रखते हुए कि वे आम जनता के लिए जनतत्र का विरोध करते हैं। उनके पास उनका अपना साहित्य और कला है, हमारा साहित्य और कला उनके लिए नही रचे गये और न वे इन्हे स्वीकार करते हैं।'

इससे जाहिर है कि प्रगतिशील साहित्य मे पूँजीवादी विचारधारा को इस बहाने बर्दाश्त नही किया जा सकता कि कुछ पूजीपति राजनीति के सयुक्त मोर्चे मे शामिल हैं।

चीन के साहित्यिक आन्दोलन का इतिहास बतलाते हुए कुओमोजो ने लिखा है - 'ये ऐतिहासिक तथ्य बतलाते हैं कि चीनी पूजीवादी वर्ग साहित्य और कला के नेतृत्व को हथियाने पर तुला हुआ था, फिर भी वह बुरी तरह असफल रहा क्योंकि वह जनता से एकता कायम नहीं कर सका।'

प्रगतिशील साहित्य किस जनता की सेवा करे, इसके बारे मे चेयरमैन माओ ने येनान वाले भाषण मे कहा है—'आम जनता कौन है? हमारी आबादी का ९० फीसदी से ऊपर हिस्सा मजदूर, किसान सिपाही और मध्यवर्ग के लोग हैं। इसलिए हमारे साहित्य और कला को पहले मजदूर वर्ग की सेवा करनी चाहिये जो क्रान्ति का नेतृत्व करता है, दूसरे किसानों की सेवा करनी चाहिये जो क्रान्ति में मजदूर वर्ग का सबसे बड़ा और दृढ साथी है, तीसरे किसानों और मजदूरों की हथियारबन्द शक्तियों की सेवा करनी चाहिये—आठवी और नई चौथी फौजो की तथा दूसरी जनसेनाओ की—जो हमारी लड़ाकू शक्तियो का मुख्य आधार हैं, चौथे मध्यमवर्ग [पेटी बुर्जुआजी] की, जो क्राति का साथी है और एक लम्बे अरसे तक चलने वाले कार्य-क्रम मे हमसे सहयोग कर सकता है।'

जनता के इन चार हिस्सों का सापेक्ष महत्त्व बतलाते हुए चेयरमैन माओ ने कहा—'हमारा साहित्य और कला इन चार तरह के लोगों के लिए है जिनसे आम जनता बनती है। इनमे मजदूरो, किसानों और सैनिको का महत्त्व सबसे पहले है। मध्यवर्ग का सास्कृतिक स्तर दूसरों से ऊँचा हो सकता है लेकिन वह सबसे कमजोर जमात है, सख्या मे भी और क्रातिकारी कूबत मे भी। इसलिए हमारा साहित्य और कला सबसे पहले मजदूरो, किसानो और सिपाहियों के लिए है और केवल गौणरूप से मध्मवर्ग के लिए। इससे उल्टी बात गलत होगी।'

सयुक्त मोर्चे के अन्दर वर्गों के इस सापेक्ष महत्त्व की याद रखना जरूरी है।

सयुक्त मोर्चे की बहस मे हिस्सा लेने वाले प्रगतिशील लेखक पिछले साहित्य का मूल्याङ्कन किस तरह कर रहे है ? 'हस' और 'नया साहित्य' से कुछ मिसाले हम यहाँ ले सकते है।

नवम्बर सन् ५० के 'हस' मे श्री अमृत राय लिखते हैं—'पिछले दो बरस मे प्रगतिशील लेखक आन्दोलन ने जो भीषण सकीर्णतावादी, उग्रवामपथी भूले की हैं जिनके कारण हमने अपने मित्रो को भी अपना शत्रु जानकर अपने से दूर ठेल दिया है, उनको साहस के साथ स्वीकार करना होगा और फिर नये सिरे से, सद्भावनापूर्वक आगे बढ़ना होगा।'

इस लेख में दो वर्षों की सफलताओ का कहीं जिक्र नहीं है। मालूम होता है कि दो साल पहले हम राजमार्ग पर शान से चले जा रहे थे कि अचानक कुछ लोगो ने हमें गुमराह करके तोड़-फोड़ के काम मे लगा दिया। जिन भीषण सकीर्णतावादी भूलों का जिक्र किया गया है, उनकी मिसाल एक भी नही दी गयी। ये भूलें दो साल मे क्यों हुईं, इन भूलों के होने का आधार क्या था—इसके बारे मे भी हमे कोई इत्तिला नहीं मिलती।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त फरवरी सन् ५१ मे लिखते हैं—'शासकवर्ग के हिमायती लेखकों के विरुद्ध अपने अस्त्रों की समस्त शक्ति न लगाकर हम उनकी धार मित्र-विचारधाराओं के विरुद्ध आज़माते रहे। इस गलती को सिद्धान्त रूप से साहित्य मे त्रातस्कीवाद कहना अनुपयुक्त न होगा। यह स्पष्ट है कि जब राजनीति में हम त्रातस्कीवादी गलतियाँ कर रहे थे, तब साहित्य में ही कैसे सही लेनिनवादी पथ पर चलते।'

प्रकाशचन्द्र जी को कम से कम यह तो बताना चाहिये था कि त्रातस्कीवाद किसे कहते है और वह साहित्य मे कैसे प्रकट हुआ है।

फरवरी ५१ 'हस' मे श्री राम गोपाल सिंह चौहान लिखते हैं—

'देश की राजनीतिक परिस्थिति को आँकते हुए साहित्य मे हमारी

समझ राजनीति में उग्र वामपन्थी सकीर्णतावादी समझ की ही तरह उग्र वामपन्थी सकीर्णतावादी थी ।'

राजनीति में उग्र वामपन्थी सकीर्णतावाद की कोई मिसाल उन्होने किसी बयान या लेख से नहीं दी और न किसी की साहित्यिक रचना से उन्होने कोई उद्धरण दिया है जिससे मालूम होता कि साहित्य मे सकीर्णतावाद यों प्रकट होता है ।

आगे वह कहते हैं—'हम समझते थे कि देश में पूजवादी ढाँचा विकास कर रहा है और हम अब सशस्त्र समाजवादी क्रान्ति के दौड़ में हैं ।'

हो सकता है कि श्री रामगोपालसिह चौहान समझते रहे हो कि हम समाजवादी क्रान्ति के दौर मे हैं लेकिन दूसरों की समझ के बारे मे राय देते वक्त उन्हें कोई सबूत, मिसाल वगैरह भी देनी चाहिये थी जिससे हम उनकी बात को सही समझते ।

श्री रागेय राघव की आलोचना ज्यादा साफ है जिसमे वह कहते हैं—'हमारे साहित्य मे ट्राट्स्कीवाद पूरी तरह उतर आया था। उसका मुख्य श्रेय मै डा० रामविलास शर्मा को देता हूँ ।'

सोवियत सङ्घ की कम्युनिस्ट पार्टी की १६ वीं काग्रेस मे स्तालिन ने त्रात्स्कीवाद के रूप और विषय वस्तु के बारे मे कहा था—'अमल मे आत्मसमर्पणवाद यह उसकी विषय वस्तु है, वामपन्थी लफ्फाजी और 'क्रान्तिकारी' और दुःसाहसिक पैंतरेबाजी—यह उसका रूप है। त्रात्स्कीवाद का यह सारतत्व है ।'

'स्तालिन और चीनी क्रान्ति नाम के लेख मे चीनी विद्वान् चेन पोता चीनी क्रान्ति के साम्राज्यविरोधी पहलुओ का जिक्र करते हुए लिखते हैं—'उस समय त्रात्स्कीवादी इस नीति का विरोध कर रहे थे। वे समझते थे, विदेशी मुल्कों से चीन के सबध का सवाल सिर्फ चुङ्गी का सवाल है। इस तरह वे चीनी क्रान्ति के साम्राज्य-विरोधी पहलू को

अस्वीकार करते थे। वे चीन के सामन्ती अवशेषो के विशाल प्रभाव को मानने से इनकार करते थे, इस तरह चीनी क्रान्ति के सामन्त विरोधी पहलू को अस्वीकार करते थे।'

इससे जाहिर है कि पराधीन देशों और उपनिवेशो मे त्रात्स्कीवाद की जड क्रान्ति के साम्राज्य-विरोधी पहलू या सामन्त-विरोधी पहलू को भूल जाना है। इस भूल से सिर्फ वामपक्षी गलतियाँ नहीं होतीं बल्कि दक्षिण-पथी गलतियों की जड भी वही है। जैसा कि चेन पोता ने कहा है—'यहाँ पर यह बताना जरूरी है कि पिछले बीस से कुछ ऊपर वर्षों में हमारी पार्टी में दक्षिणपथी और 'वामपथी' अवसरवाद की जो गलतियाँ हुई हैं, वे सबसे पहले क्रान्ति के रूप के बारे में स्तालिन की इस द्वन्द्वात्मक व्याख्या के उल्लघन का नतीजा है जिनमें या तो साम्राज्य-विरोधी पहलू को भुला दिया गया है या सामन्तविरोधी पहलू को।'

इससे पता चलता है कि दक्षिणपथी और वामपथी भूलों की जड़ मिली-जुली है। सोवियत सङ्घ की तरह चीन मे भी दोनों तरह के क्रान्तिविरोधी मिल गये थे। इसलिए यह देखना गैर वाजिब न होगा कि हिन्दी के प्रगतिशील लेखको ने साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की राज-नीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक भूमिका के बारे में क्या लिखा है, किस हद तक उनका विरोध किया है, और किस हद तक उनसे समझौता किया है।

यह दिलचस्प बात है कि पिछले दो तीन साल के साहित्य पर अपनी राय जाहिर करते हुए 'हँस' और 'नया साहित्य' के लेखकों ने आमतौर पर माउटबेटन योजना के बारे में चुप्पी साध ली है या कहीं जिक्र भी किया है तो यह नहीं बतलाया कि प्रगतिशील साहित्य मे उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई है। वह बात अपने आप में एक सबूत है कि ये लेखक साहित्य मे सकीर्णतावाद की छानबीन करते हुए साम्राज्यवादी योजनाओं को भूल जाते हैं।

सन् ४७ के उत्तरार्द्ध मे प्रगतिशील लेखकों के सामने माउटबेटन योजना का रहस्य स्पष्ट नहा था। उन्हाने उसका तीव्रता से खडन नहीं किया और न उन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति कॉग्रेसी नेताओ के विश्वासघात पर रोशनी डाली। उस समय भी साहित्य मे एक सयुक्त मोर्चा बना हुआ था जिसमे सब लोग गान्धी महात्मा की जय बाल रहे थे और बहुत-से प्रगतिशील लेखक उन लोगो की तरफ से चुप्पी साधे थे जो गान्धी महात्मा के साथ लार्ड माउटबेटन की जय भी बोल रहे थे।

फर्वरी सन् ४८ मे हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी काग्रेस हुई। इसमे माउटबेटन योजना का रहस्य पहली बार देश की जनता के सामने प्रकट हुआ।

अगस्त सन् ४७ से लेकर फर्वरी सन् ४८ के बीच के दिनो के बारे मे कॉम॰ड, रजनी पाम दत्त 'ब्रिटेन के साम्राज्य सकट' (Britain's Crisis of Empire) मे लिख तेहै—'हिन्दुस्तान जैसे देशों मे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन साम्राज्यवाद के साथ बडे पूँजीपतियों के पूर्ण क्रान्तिविरोधी सहयोग की गद्दारी से कुछ समय के लिए उलझन मे पड़ गया था। वह अब औद्योगिक मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व मे जो कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व मे प्रकट होगा, अपनी शक्तियों को फिर बटोरते हुए, एक विशाल जनवादी साम्राज्यविरोधी मोर्चे के अन्दर जनता के विशद अङ्गों को एक करते हुए ही आगे बढ सकता है। यह आम नीति हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की हाल मे होने वाली दूसरी पार्टी काग्रेस के फैसलो में जाहिर हुई है।'

इसी तथ्य को बलाबुशेविच, द्याकोव आदि सोवियत लेखको ने भी स्वीकार किया है। माउटबेटन योजना का वास्तविक रहस्य प्रकट होना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसका प्रभाव सभी वामपन्थी दलों और विचारकों पर कमो-बेश पड़ा। प्रगतिशील लेखकों ने भी सन् ४८ के

उत्तरार्द्ध में माउटबेटन योजना का पर्दाफाश करते हुए बहुत-कुछ लिखा। इस तरह प्रगतिशील साहित्य ने साम्राज्यवाद का विरोध किया और देश की जनता के स्वाधीनता सबधी भ्रम दूर करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया। यह स्वाभाविक था कि जो लोग बड़े पूँजीपतियो की विचार-धारा के प्रतिनिधि थे, उनकी तीव्र आलोचना की जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी काग्रेस के मसौदे में सभी बातें सही नही हैं लेकिन उसका यह ऐतिहासिक महत्त्व है कि उसने वास्तविक स्वाधीनता और जनतन्त्र का ध्येय हमारे सामने रखा। जो लेखक अभी यही तै नही कर पाये कि साहित्य मे सयुक्त मोर्चा किसके खिलाफ बनेगा, किसके नेतृत्व मे बनेगा, उसका उद्देश्य क्या है, उनकी चेतना १५ अगस्त ४७ के आसपास मड़रा रही है और उन्होंने बाद की भ्रान्तियों को भी सही पृष्ठभूमि में नही देखा।

सन् ४६ मे कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्त्व ने कई बयान छापे जिनमे साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और देशी पूँजीवाद की भूमिका को गलत पेश किया गया था। इनमे जून सन् ४६ मे प्रकाशित होने वाला कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यनीति सबधी बयान मुख्य है। अगर यह मान भी लें कि प्रगतिशील लेखको ने इस बयान को अपना आधार बनाया तो भी यह जून सन् ४६ के बाद सम्भव होगा, उससे पहले डेढ साल का साहित्य उसके आधार पर रचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब सर्व श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामगोपाल चौहान दो साल के साहित्य को बिना किसी विभाजन के त्रात्स्कीवादी नीति पर आधारित कहते हैं, तब वे एक ऐसी बात कहते हैं जिसका उनके पास कोई सबूत नहीं है।

इसके अलावा ध्यान देने की बात यह है, कि प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी मे कभी कोई ऐसा यात्रिक सबध नहीं रहा कि आज उसके नेतृत्व ने एक प्रस्ताव पास किया हो तो कल प्रगति-

शील लेखक उस पर साहित्य रचने लगे हो। प्रगतिशील लेखक सङ्घ ने सन् ४६ मे जो प्रस्ताव पास किये हैं—अप्रैल मे यू० पी० प्रान्तीय सम्मेलन में और मई में अखिल भारतीय सम्मेलन मे—वे उसी समय के कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के मसौदों से काफी भिन्न हैं।

मिसाल के लिए मई ४६ मे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का घोषणापत्र कहता है—'अगस्त १६४७ के बाद भारतीय जनता की स्वाधीनता की लड़ाई एक नये दौर मे दाखिल हुई है। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में सदा साम्राज्यवाद से समझौता किया करता था, अब खुले आम साम्राज्यवाद से गठबन्धन कर लिया। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ में बने रहने का जो निश्चय भारत सरकार ने किया है, वह इस गठबन्धन की ही चरम परिणिति है। यह समझौता जनता की इस इच्छा का विरोधी है कि इस देश मे एक पूर्ण स्वतत्र, सार्वभौम प्रजातान्त्रिक राज्य स्थापित किया जाय।'

त्रात्सकीवादी विचारधारा के अनुसार भारतीय जन-आन्दोलन के साम्राज्यविरोधी पहलू से इनकार करना चाहिये था। यह घोषणापत्र साम्राज्यवाद की भूमिका को प्रमुखता देता है। उसमे और बहुत-सी खामियाँ हैं लेकिन उसके बारे मे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने राष्ट्रीय स्वाधीनता और जनतत्र के लिए सघर्ष को नजरन्दाज किया है।

श्रीरामगोपाल सिह चौहान का कहना है—'हम समझते थे कि देश मे पूँजीवादी ढाँचा विकास कर रहा है और हम अब अशस्त्र समाजवादी क्राति के दौर मे हैं।'

अगर यह बात सही है तो रामविलास शर्मा ने—जिन्हे साहित्य में त्रात्स्कीवाद लाने का मुख्य श्रेय प्राप्त है—श्री सुमित्रानन्दन पत पर अपनी आलोचना में यह क्योकर लिखा था—'जिस औपनिवेशिक व्यवस्था को अँग्रेज दो सौ साल से कायम किये हुए थे, वह झटके खाकर जगह-

जगह टूटने लगी है। उसमें पेबन्द लगा कर जनता को बहलाया नहीं जा सकता।'

पन्त जी पर मेरे लेख का अतिम वाक्य यह है—'और इसमे किसे सन्देह हो सकता है कि हमारा साहित्य इस सङ्घर्ष को चित्रित करने के साथ-साथ जनता की विजय के लिए और अन्त में समाजवाद की स्थापना के लिए एक महान् प्रेरक शक्ति भी बनेगा।'

मै श्री चौहान का ध्यान—'अन्त में समाजवाद की स्थापना के लिए'—इस वाक्याश की तरफ खास तौर से खींचना चाहता हूँ। क्या इससे यह जाहिर होता है कि हमारी समझ मे मौजूदा दौर समाजवादी क्रान्ति का है? औपनिवेशिक व्यवस्था के खिलाफ जनता की विजय के बाद 'अन्त मे समाजवाद की स्थापना' होगी, यह कहना किस तरह सकीर्णतावादी है?

'हस' के दमन विरोधी अङ्क मे कॉग्रेसी नेताओं के विश्वासघात के बारे मे मैने लिखा था—'आजादी के नाम पर उन्होने हिन्दुस्तान के गौरवपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रेज और अमरीकी सेठो के हाथ बेच दिया। जब तमाम उपनिवेशो में जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्य के पर्चे उड़ा रहे थे, उस समय क्रान्ति से भय खाकर इन पूँजीवादी नेताओ ने उसे नया जीवन दे दिया।'

इससे क्या जाहिर होता है? साम्राज्यवादी प्रभुत्व खत्म हो गया या हिन्दुस्तान को जकड़े हुए है?

कॉग्रेसी दमन के सिलसिले में जनवादी मोर्चे के बारे में इस लेख मे कहा गया है—'हमारा देश बहुत जल्दी एक विशाल कसेंट्रेशन कैम्प बनता जा रहा है। हजारो की तादाद में लोगों को पकड़ कर जेलों में बन्द किया जा रहा है। इन बन्द किये जाने वालों में सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी के, सिर्फ सोशलिस्ट पार्टी और दूसरे वामपन्थी दलों के लोग ही नहीं हैं, इसमे कॉग्रेस के लोग भी हैं और बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जो

किसी भी दल या पार्टी के साथ जुड़े हुए नहीं हैं। यह हमला उस जनवादी मोर्चे पर है जिसमें ये सभी लोग शामिल हैं—हालाकि उनका कोई एक प्लेटफार्म नहीं है, न किसी एक रजिस्टर मे उनके नाम दज हैं।

'यह जनवादी मोर्चा दिन पर दिन बढता जाता है। यह करोड़ों जनता की हमदर्दी अपनी तरफ खींचता है। मौजूदा व्यवस्था से जो घोर असन्तोष फैला हुआ है वह सिमट कर इस जनवादी मोर्चे की ओर बहता है—यानी देश की तमाम जनता उन वामपक्षी जनवादियो का मुँह जोह रही है, जो इस व्यवस्था को खत्म करके सच्ची आजादी और जनतन्त्र लाने की बात करते है। इसलिए भले ही एक दल के नेता अपनी फूट नीति के कारण दूसरे दल के साथ संयुक्त मोर्चा न बनाये, देश की परिस्थितियाँ, समाज की अनिवार्य आवश्यकताएँ, स्वय जनता का अनुभव यह सयुक्त जनवादी मोर्चा गढ रहा है। इस जनवादी मोर्चे को दृढ बनाना इतिहास के काम को पूरा करना है।'

यह ध्यान देने की बात है कि श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त वगैरह आजकल जब साहित्य मे सकीर्णतावाद की चर्चा करते हैं तो मेरे लेखो से उद्धरण नही देते। ऊपर दिये हुए वाक्यो को वे चुपचाप दबा जाते हैं और त्रातस्कीवाद का नाम लेकर इस तरह विलाप करते हैं मानो इस विलाप में ही उन्हे आनन्द मिलता हो।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की शतवर्षी पर 'हस' में प्रकाशित मेरे लेख मे सकीर्णतावाद प्रेमी सज्जन ये वाक्य पढ़ सकते हैं—'चीन की क्रान्ति तमाम एशिया के भाग्य का निपटारा कर रही है। वियतनाम और इडो-नेशिया के सशस्त्र युद्ध को साम्राज्यवादियो ने खून में डुबो दिया। हिन्दु-स्तान मे नाविक विद्रोह, फौज और पुलिस की हड्तालें, मजदूरों और किसानों के शानदार आन्दोलन, १५ अगस्त की आजादी के लिए बलि-दान कर दिये गये। जहाँ लोग कहने से न मानें, वहाँ उन्हे गोली चला

कर मनवाया जा रहा है कि तुम आजाद हो। लेकिन चीन मे च्याग और ट्रूमैन के तमाम दॉव असफल रहे। माओ से तुङ्ग और जूदे के नेतृत्व मे चीनी क्रान्ति ने नयी सफलताएँ पायी।'

जुलाई ४८ मे 'सस्कृति और सङ्कट' नाम से श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का एक लेख छपा है। उसकी शुरुआत यो होती है—'पूँजीवाद ने उत्पादन के साधनो का अभूतपूर्व विकास करके एक ओर तो समाजवाद और जनसस्कृति की सभावना के द्वार खोल दिये हैं, किन्तु दूसरी ओर लाभ पर अवलम्बित खोखली समाज व्यवस्था और मृतप्राय सस्कृति की रक्षा का भी वह प्रयास करता है।'

गुप्त जी ने यूरोप के देशो के लिए कहे हुए किसी वाक्य के इनवर्टेड कॉमा हटा कर उसे हिन्दुस्तान पर चस्पाँ कर दिया है। अगर हिन्दुस्तान में पूँजीवाद ने उत्पादन के साधनों का अभूतपूर्व विकास किया होता तो हमारा देश अर्द्ध उपनिवेश न रह कर फ्रान्स या इटली की तरह स्वय एक साम्राज्यवादी देश होता, तब जन आन्दोलन की रीति-नीति भी दूसरी होती।

नवम्बर ४८ के अपने एक लेख मे श्री अमृतराय लिखते हैं—'लेखक की प्रगतिशीलता या प्रतिक्रियाशीलता इस बात पर निर्भर होती है कि चेतन अथवा अचेतन रूप में वह उस वर्ग के साथ है जो आज समाज को आगे, नवजीवन की ओर, समाजवाद और साम्यवाद की ओर ले जा रहा है या पीछे, फासिस्ट अन्धकार या अपमृत्यु की ओर घसीट रहा है।'

यहाँ पर स्वाधीनता और जनतत्र के लिए सघर्ष करने का सवाल नहीं है। सवाल है सीधा समाजवाद और साम्यवाद की तरफ बढने का या फासिज्म की तरफ घसीटने का।

जून ४९ मे वह लिखते हैं—'आपके साथ आज बिल्कुल यही बात हो रही है, और आज चूँकि हम पूँजीशाही के अतिम मरण-सकट और

विश्व-क्राति तथा विश्व-समाजवाद के दौर से गुजर रहे हैं, इसीलिए आप और दुनिया की दूसरी सभी पूँजीवादी तानाशाहियाँ अपने को कायम रखने के लिए 'जनतत्र' का अपना नकाब फेंक फॉक कर अपने असली, फासिस्ट रूप में सामने आ रही है और अपने हथियार-खाने से दमन के नये-नये चमचमाते हुए हथियार निकाल कर जनता की आजादी का गला रेत रही है।'

यहाँ पर यह समझ (या नासमझी) साफ दिखाई दे रही है कि जैसे और देशो में पूँजीवाद फासिज्म के जरिये अपनी रक्षा कर रहा है, वैसे ही भारत मे भी पूँजीवाद (न कि साम्राज्यवाद और उसके सामन्ती-पूँजीवादी सहायक) फासिज्म के जरिये अपनी हिफाजत कर रहा है। विश्व-क्रान्ति तथा विश्व-समाज के दौर मे पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलन की भूमिका खो गई है।

लेकिन ये पुरानी बातें हैं। सन् ५० और ५१ के 'हंस' और 'नया साहित्य' को लें तो हम यह नहीं कह सकते कि हमने साम्राज्यवाद के दाँवघात का हर कदम पर मुकाबला किया है। अब हमारे मित्र साम्राज्य-वाद के विरोध की चर्चा तो करते हैं लेकिन साम्राज्यवादी प्रभुत्व हमारे राष्ट्रीय जीवन में किस तरह प्रकट होता है, इसकी ठोस मिसालें वे अपने लेखो मे नहीं देते। इसका सबब यह है कि वे कुछ सूत्रो को कठस्थ करके उन्हें हर जगह दोहराने के आदी हैं। इन सूत्रों से बाहर जहाँ उन्हें कोई नयी चीज दिखाई देती है, वे घबरा उठते हैं। हमे साम्राज्य-वाद का विरोध करना चाहिये, इस बात को श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री अमृतराय कई बार कह चुके हैं लेकिन आये दिन की राजनीतिक घटनाओं में वे अपने सूत्र को लागू करने की कोशिश नही करते। मसलन् कलकत्ते से दार्जिलिङ्ग होते हुए अमरीकी हथियार ल्हासा भेजे गये, तिब्बत में चीन के खिलाफ साम्राज्यवादियो ने षड्यन्त्र रच कर हिन्दुस्तान को चीन-विरोधी जंग में घसीटने की कोशिश की, नेपाल में

दखलदाजी करके उन्होने फौजी अड्डा बनाने की कोशिश की, २८ दिसम्बर १६५० को अमरीका की तरफ से लोय हेंडरसन ने और हिन्दुस्तान की तरफ से गिरजाशकर वाजपेयी ने हिन्दुस्तान और अमरीका के औद्योगिक सहयोग के बारे मे एक समझौते पर दस्तखत किये, अन्न देने के सम्बन्ध मे अमरीकी मोलभाव, हिन्दुस्तान मे बढता हुआ साम्राज्यवादी युद्ध प्रचार, काश्मीर मे साम्राज्यवादी षड्यत्र इस तरह की पचीसों बातें हैं जिन पर प्रगतिशील पत्र-सम्पादकों को लिखना चाहिए। इन पर न लिख कर जब वे रटे हुए सूत्र दोहराते हैं तब उसका मतलब यही है कि उन्होने साम्राज्य-विरोध का नारा ऊपरी तौर से स्वीकार कर लिया है लेकिन साम्राज्यवादी प्रभुत्व की हकीकत और उसके दाँव-पेच से वे खुद अपरिचित हैं।

प्रगतिशील लेखकों के लिए सबसे बड़ा खतरा यह है कि वे जन-आदोलन के सामन्त-विरोधी पहलू को भुला दें। जन-आदोलन के सामत विरोधी पहलू को भुला देने का मतलब है, देश की ८० फीसदी किसान जनता की जिन्दगी और मौत के सवाल को भुला देना। हमारा देश खेती-प्रधान है। यहाँ की आबादी का बहुसख्यक हिस्सा सामन्ती अवशेषों—और बहुत जगह प्राचीन गुलामी के बन्धनो से—पीड़ित है। साम्राज्यवाद ने इस सामन्ती अर्द्धसामन्ती, गुलामी, अर्द्ध-गुलामी के शोषण को सुरक्षित रखा है, स्वय अपना शोषण कायम रखने के लिए उपनिवेशो और पराधीन देशो की समस्या जैसा कि विख्यात है, मूलतः किसान-समस्या है। इस समस्या को भुला देने का मतलब है, परोक्ष रूप से साम्राज्यवादी प्रभुता को कायम रखने मे मदद देना।

अगर हम इस बात पर गौर करे कि प्रेमचन्द के निधन के बाद प्रगतिशील लेखकों ने कितनो कहानियाँ और उपन्यास किसानो की जिन्दगी पर लिखे हैं तो हमे परिस्थिति की गभीरता का पता चल जायगा पिछले १५ साल के प्रगतिशील कथा साहित्य में हिन्दुस्तान की आबादी

के सबसे बड़े हिस्से का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। यह कौन-सा यथार्थवाद है? हमारे मित्र कहने के लिए चाहे जो कहे, हकीकत यह है कि उन्होने अमल मे मध्यवर्ग को किसानो और मजदूरो से ज्यादा महत्त्व दिया है। उनके नायक-नायिकाएँ चाहे कम्युनिस्ट इटरनेशनल की प्रतिनिध ही दिखाये गये हो, लेकिन होरी और धनिया के सामने हैं वे मोम की गुड़ियो की तरह हैं।

सकीर्णतावाद का असली और सबसे खतरनाक रूप यह है।

सकीर्णतावाद का मतलब है—जनता से अलगाव। हमारा अमल साबित करता है कि किसानों और मजदूरो के जीवन, उनकी समस्याओं को हम अपने साहित्य में जगह नहीं दे पाये। और यह हकीकत साल दो साल की नहीं है। मर्ज पुराना है और उसे दूर करने में तकलीफ उठानी पड़ सकती है।

यह बात नहीं है कि किसानो के बारे मे लिखा न गया हो। लेकिन जो कुछ लिखा गया है, वह बहुत नाकाफी है और हम किसी तरह भी नहीं कह सकते कि हमने प्रेमचन्द के बाद किसान सबधी कथा साहित्य आगे बढ़ाया है।

सकीर्णतावाद के खिलाफ लिखने वाले बहुत-से मित्र इस सवाल को उठाते ही नही हैं। उनके लिए जनता की जिंदगी से सम्पर्क पैदा करना किसान जनता को साहित्य मे चित्रित करना सयुक्त मोर्चे का महत्त्वपूर्ण सवाल नहीं है।

साहित्य मे सङ्कीर्णतावाद कैसे दूर हो, इस बारे मे माओ से तुङ्ग ने यूनान मे कहा था—'मिसाल के लिए साहित्य और कला मे सङ्कीर्णतावाद सैद्धान्तिक सवाल है। अगर हम सकीर्णतावाद खत्म करना चाहते हैं तो हमे यह नारा लगाना चाहिये और उसे अमल में लाना चाहिये, किसानो और मजदूरों के लिए काम करो, आठवीं और नयी चौथी फौजो के लिए काम करो, जनता में जाओ!' वरना हम कभी भी सङ्कीर्णतावाद से पीछा न छुड़ा पायेंगे।'

इस सीख को अमल में लाकर ही हम सङ्कीर्णतावाद दूर कर सकते हैं और कोई छोटा सुगम मार्ग नहीं है।

दुर्भाग्य से इस सीख पर अमल करना तो दूर, हमारे कुछ मित्र सामतवाद को पुष्ट करने वाली जानी-बूझी विचारधाराओं का जान या अनजान मे समर्थन करते हैं। गाँधीवाद और साम्प्रदायिकता दोनो ही सामतवादी की रक्षा करते हैं। हमारे मित्र एग्जिस्टेन्शलिज्म पर तो लेख लिखते हैं लेकिन पत कविवर और महापडित राहुल के साहित्य मे गाँधीवाद और साम्प्रदायिकता के विष के खिलाफ चुप्पी साध जाते हैं।

कवि श्री सुमित्रानन्दन पत लिखते हैं—

'राजभवन हे राजभवन, जन मन के मोहन !
युग युग के इतिहास रहे तुम भू के जीवन !'

और—

'प्रजातत्र के साथ राज्य रह सकते जीवित,
जन जीवन विकास के नियमो से अनुशासित।'

इस तरह की कविताओं की आलोचना करना तो दूर, हमारे मित्र इनकी आलोचना करने वालो को सङ्कीर्णतावादी कह कर सामन्तवाद के समर्थको को सीधी मदद पहुँचाते हैं। पत जी रहस्यवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते रहे हैं जिसके बारे मे मेरा कहना है—'जिस तरह ज्ञान और अज्ञान मे कोई समन्वय नहीं हो सकता, उसी तरह मजदूरो के क्रातिकारी दर्शन मार्क्सवाद, सामती और पूँजीवादी आदर्शवाद में कोई समन्वय नहीं हो सकता।'

पन्तजी के रहस्यवाद का खडन करने के बदले मेरी आलोचना को सकीर्णतावादी कह कर मेरे मित्र सामन्ती और पूँजीवादी विचारधारा की ही मदद करते हैं।

महापडित राहुल साकृत्यायन लिखते हैं—सन् '५० मे प्रकाशित

अपनी पुस्तक 'आज की राजनीति' मे—'आखिर उर्दू क्या बला है? क्या वह इस्लामिक जेहादियो के भारत-विजय के उपलक्ष मे खडा कीर्ति-स्तम्भ नही है? हम जानते हैं कि उनके लिए भारत मे यह कोई नयी चीज नहीं थी। इस्लाम ने जो भी कहा हो, किन्तु मुसलमानों ने अपने आप को देश की धारा का अग बनाने से सदा इन्कार किया।'

'आज की राजनीति' मे एक पात्र कहता है—'आज भारत से हमारी स्वतन्त्रता के दुश्मन बिदा हो गये हैं। पाकिस्तान ने देश के एक भाग को काट कर अपना राज्य खडा कर लिया और मै यह मानता हूँ कि वह तब तक छेडखानी करता रहेगा जब तक एक मर्तबे अच्छी तरह पटकी न खायगा।'

दूसरा पात्र कहता है—'मै तो समझता हूँ कि एक बार शस्त्र परीक्षा अच्छी तरह हुए बिना पाकिस्तान की अकल ठिकाने नही लगेगी।'

नवम्बर सन् '५० के 'हस' में श्री अमृतराय ने प्रेमचन्द्र की कमजोरी का जिक्र किया है कि 'उन्होने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की पूँजीवादी नेताशाही की तरह साम्राज्यवादी भेदनीति के आगे अपनी असफलता, अपनी व्यर्थता को मान लिया।'

लेकिन जनवरी ५१ के 'हस' मे 'आज की राजनीति' के लेखक, हिन्दी-उर्दू के मसले पर जाने-बुझे साम्प्रदायिक प्रचारक महापडित राहुल के लिए श्री अमृतराय ने लिखा है—'मोटी तौर पर यह बात भी कही जा सकती है कि उनका साहित्य सामन्तवादी समाज-व्यवस्था का पोषक नहीं है।'

इससे जाहिर है कि सामन्त-विरोध की बात अभी ऊपरी है, हमारे मित्रो के लिये वह व्यवहार की वस्तु नही बन पायी।

प्रतिक्रियावादी विचारधारा की एक विशेषता कम्युनिस्ट-विरोध है। मैं यहाँ ईमानदारी के मतभेद और गलतफहमियों की बात नहीं करता मैं उन लोगो की बात कहता हूँ जो अपने को कम्युनिज्म का हमदर्द

कहते आये हैं या अब भी कहते हैं। ये लोग जब कम्युनिस्ट क्रान्ति, कम्युनिस्ट तानाशाही, कम्युनिस्ट गड़बडी की बाते करते हैं, तब हम उनका तीव्र विरोध किये बिना नही रह सकते। हर ईमानदार जनवादी को इसका विरोध करना चाहिये चाहे वह कम्युनिज्म से सहमत हो चाहे असहमत—क्योकि आज सारी दुनियाँ का तजुर्बा बतलाता है कि हर देश के सयुक्त जनवादी मोर्चें मे कम्युनिस्ट अभिन्न रूप से मौजूद हैं और उनकी प्रमुख भूमिका के बिना उसका निर्माण नहीं होता।

'आज की राजनीति' मे युधिष्ठिर कहता है—'तो लाल भवानी आके खा जायगी। जानते हैं न, चीन मे लाल भवानी आ गई।'

वही पात्र आगे कहता है—'यदि समय पर नहीं सॅभले तो लाल भवानी के आने मे देर नहो होगी, और उनके स्वागत मे न जाने कितने नर-नारी आपसी सघर्ष मे बलि चढेंगे।'

राहुल जी के पात्र लाल भवानी का डर दिखाते हैं लेकिन हिन्दुस्तान पाकिस्तान युद्ध का स्वागत करने के लिए मारू सगीत छेडते हैं। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त 'उत्तरा' की भूमिका मे कहते हैं—'वर्ग युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य मे पूँजीवादी तथा साम्राज्य-वादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप मे विकृत एव विकीर्ण हो जायगा।

यहाँ पर पन्त जी ने तमाम प्रतिक्रियावादियों की तरह फासिज्म और कम्युनिज्म को एक जैसा कह कर अपने रहस्यवाद को बेनकाब कर दिया है।

मेरे कुछ मित्रों ने मेरे लेखों के सिलसिले मे कम्युनिज्म या कम्युनिस्ट पार्टी का सवाल उठाया है। उनकी तर्क योजना का पहलू ध्यान देने योग्य है।

श्री राहुल साकृत्यायन के सम्बन्ध में मेरे एक लेख का उत्तर देते हुए श्री प्रज्ञाचक्षु कहते हैं—'उन्हे तो गुप्त आदेश मिला है—डैम राहुल

और वे अपने विवेक को, वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बालाये ताक रखकर दर्शन के जगल मे घुस पड़े हैं।' (नवयुग, २८ जनवरी ५१)

यह कीचड फेकते हुए इन सज्जन को खुद उसकी दुर्गन्ध से इतनी पीडा हुई कि उन्होने मुँह पर कपड़ा बाँध लिया और असली नाम का 'प्र' लेकर नकली नाम प्रज्ञाचक्षु रखकर ही साहित्य के मैदान में कदम रख सके।

राहुल सम्बन्धी उसी लेख का जिक्र करते हुए श्री अमृतराय जनवरी '५१ के 'हस' में लिखते हैं—'क्या जो आदमी कम्युनिस्ट पार्टी की सभी बातों को नहीं मानता या जिसको रचनाएँ देशकाल से अलग करके समझे गये यात्रिक 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती प्रतिक्रियावादी है ?'

अमृतराय जी ने यह तो नही कहा कि रामविलास को पार्टी से आदेश मिला है कि जो कम्युनिस्ट न हो, उसे 'डैम' कर दो लेकिन उनके सवाल का मतलब साफ है कि मेरा यही धन्धा रहा है। सन् '४६ की गर्मियों मे उन्होंने 'प्रगति' में 'प्रेमचन्द्र की परम्परा' नाम से मेरा एक लेख छापा था। उसमें साम्राज्य-विरोधी खेमे के लेखकों मे श्री बैजनाथ सिह विनोद (जो उस समय सोशलिस्ट पार्टी मे थे) काग्रेसी श्री राम-नारायण यादवेन्दु, सरकारी कर्मचारी गिरजाकुमार माथुर, गैर-पार्टी लेखक तेजबहादुर चौधरी, गिरीश अस्थाना, घनश्याम अस्थाना वगैरह का जिक्र किया गया है और उनकी रचनाओं से उद्धरण दिये गये हैं। ये सज्जन न सन् '४६ में कम्युनिस्ट पार्टी की सारी बातें मानते थे और न आज मानते हैं। लेकिन मेरी समझ मे ये तब भी साम्राज्य-विरोधी लेखक थे और आज भी हैं।

तब श्री अमृतराय को यह इशारा करने की जरूरत क्यो पडी कि जो कम्युनिस्ट पार्टी की सभी बातो को न माने, उसे मै प्रतिक्रियावादी कहता रहा हूँ।

जरूरत यों पडी कि वह शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, पन्त जी वगैरह पर लिखी हुई मेरी आलोचना को गलत साबित करना चाहते हैं लेकिन कोई दलील न पाकर वह उस स्तर पर उतर आये है जो किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए शर्मनाक है। अगर हम आलोचना के तर्कों का खडन न करके यह आरोप लगाने लगें कि जो कम्युनिस्ट पार्टी की सारी बाते नही मानता उसे तुम प्रतिक्रियावादी कहते हो तो सैद्धांतिक स्तर पर बहस कैसे चलेगी ?

असली बात यह है कि चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रांति के अवसर पर 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ की,' उनका इसी तरह की वोल्तेयर और शेली की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नही रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नो से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध शाश्वत प्रश्नो की तरफ मोड़ा जाय। उनकी इस प्रगतिविरोधी विचारधारा का मैने 'विप्लव' और 'नया सबेरा' के दो लेखो मे खडन किया है। मेरे मित्र न तो खुल कर कह सकते है कि चौहान ने जो लिखा है, ठीक लिखा है और न मेरे तर्कों का जवाब दे सकते हैं। इस-लिए 'कला कला के लिए' की तरह 'विरोध-विरोध करने के लिए' के उसूल पर ये सज्जन आलोचना की जगह रिमार्क पास करते है, शायद यह समझ कर कि आस्तिक हिन्दू की तरह मै उनके आर्ष वाक्यों को चुपचाप स्वीकार कर लूँगा।

इसी तरह पन्त जी मे मार्क्सवाद और गाधीवाद के समन्वय का, उनके रहस्यवाद और वर्ग सहयोग का मैने खडन किया है। रांगेय राघव के साहित्य मे इतिहास की पुनरुत्थानवादी धारणाओं, रहस्यवाद, पराजयवाद, इनकलाबवाद, कला के प्रति लापर्वाही वगैरह का विरोध

किया है। मैं अपने इन तमाम लेखो की स्थापनाओ को सही मानता हूँ और अपने मित्रो से आग्रह करता हूँ कि आप चौहान, रागेय राघव, राहुल जी आदि की रचनाओं की खुद आलोचना कीजिये, जो बातें मुझ से छूट गई हों उन्हें प्रकाश मे लाइये और जो बातें मैने गलत कही हो उनका युक्तिपूर्ण खंडन कीजिये। यह रास्ता प्रगतिशील आलोचना के विकास का रास्ता है और रिमार्क पास करने वाला रास्ता आपके पतन का रास्ता है।

रामगोपाल सिंह चौहान ने झूठ की दौड मे सबसे आगे रहने के ख्याल से लिखा है—'हमारी आलोचना की मात्र कसौटी थी—अमुक रचना अथवा अमुक लेखक आँख मूँद कर सौ फी सदी मजदूरवर्ग, खेतिहर मजदूरवर्ग तथा कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा जनता के अन्य अगों–निम्न मध्यम वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति तथा अन्य सस्थाओ का सर्वहारा मे इनके प्रति घृणोत्पादक ढग से भडाफोड़ न करता हो, उनका मखौल न उडाता हो, सशस्त्र समाजवादी क्रांति का नारा न देता हो, तो वह लेखक और रचना प्रतिक्रियावादी है, दुश्मनपच्छी है।'

इस तरह की बातें वही लिख सकता है जो या तो पिछले तीन साल के आलोचना साहित्य से एकदम अपरिचित है या जो जानबूझ कर प्रगतिशील लेखको मे फूट डालने पर तुला हुआ है।

अक्टूबर '५० से लेकर मार्च '५१ तक के 'हस' मे, छ महीनों मे, एक बार भी श्री अमृतराय ने तैलगाना के उन वीरों को याद नही किया, जिन्हें निजामशाही और नेहरूशाही ने फाँसी की सजा दे रखी है। 'नया साहित्य,' 'नयी चेतना' देश-विदेश के अनेक जनवादी पत्र उनकी सजा को रद करने की माँग कर चुके है। लेकिन यह माँग करना तो दूर, अमृतराय ने रागेय राघव का एक बयान छापा है जिसमें कहा गया है—'बाबर की तोपों पर जान दे देने वाले राजपूतो का जमाना गया। क्राति व्यक्तिगत वीरता का प्रदर्शन मात्र नहीं है। वह आतक-

वादी खेल नहीं है कि दूर मजदूर-किसान बेटों का खून गिरा करे और टुटपुँजिये मध्यवर्गीय अपनी रीढ़ की हड्डियों में दूर बैठकर सनसनी का मजा लेते रहें। केवल शस्त्र उठा लेना ही यह जाहिर नहीं करता कि उस लड़ाई को चला ले जाने की ताकत भी साथ में आ गई है। ऐसे ही लोगों ने खिलाफत के लिए होने वाले आन्दोलन को पूरी तरह से स्वराज्य का आन्दोलन समझ कर जो धोखा उठाया था वही निजाम और नेहरू की फौज में भेद न कर दुहराया गया।'

आज के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में सम्पादकीय लेख निकला है जिसमें झाँसी के चार शहीदो की विदाई पर आँसू बहाये गये हैं। गोली चलाने वालो के खिलाफ गुस्से का एक शब्द नहीं है। गुस्से के शब्द भोली-भाली जनता को 'भड़काने वालों' के लिए कहे गये हैं।

कुछ दिन पहले ग्वालियर मे चन्द विद्यार्थी शहीद हुए थे। उस वक्त भी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनसे बड़ी हमदर्दी जाहिर की थी लेकिन गोली चलाने वालों के खिलाफ एक शब्द न कह कर गुस्सा उतारा था 'भड़काने वालों पर।'

श्री रागेय राघव ने तैलगाना में जुल्म करने वालों के लिए गुस्से का एक लफ्ज इस्तेमाल नही किया; गुस्सा उतारा है, किसानों को भड़-काने वालों पर।

यह महत्त्वपूर्ण इटर्व्यू के लेने के लिए श्री रामगोपाल सिंह चौहान बनारस से आगरे तशरीफ लाये थे, उसी समय जबकि सुप्रीम कोर्ट मे तैलगाना के वीरो का मुकदमा पेश था।

साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, बड़े पूँजीपतियों की राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक नीति का ठोस तरीके से कदम-कदम पर पर्दाफाश करके ही प्रगतिशील लेखक अपनी सामाजिक जिम्मेदारी निबाह सकते हैं। इसके लिए जरूरी है कि हम सही तरीके पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध को समझें। मिसाल के लिए अगर हम दूसरे देशों

के शान्ति-आन्दोलन को लें तो देखेंगे कि वहाँ के शान्ति-सैनिक विश्व शान्ति का सम्बन्ध अपने देश की समस्याओं से जोड़ते हैं।

वार्सा काग्रेस मे पोलैंड के वैज्ञानिक ने कहा—'वार्सा का पुनर्निर्माण किस तरह हो रहा है? यह सच है कि ईंट और गारे से नयी दीवालें खड़ी की जा रही हैं। लेकिन असली मसाला जिससे वार्सा फिर से बनाया जा रहा है वह पोलैंड की जनता की शान्ति के लिए इच्छा-शक्ति है।'

वार्सा काग्रेस में एक ब्रिटिश कजर्वेटिव पार्टी के सदस्य ने कहा—'क्या इङ्गलैंड के लोग भी शान्ति चाहते हैं? बेशक वे शान्ति चाहते हैं। क्या वे कोरिया, मलाया और दक्षिणी अफ्रीका की घटनाओं से चिन्तित हैं? बेशक, वे चिन्तित हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं समझता हूँ कि शुरू से ही कोरिया मे फौजें भेज कर हमने कितनी बड़ी गलती की है लेकिन जब तक वह धूर्त मैक आर्थर स्योल के खँडहरों मे खुदा से इबादत नही करने लगा तब तक एक ईसाई की हैसियत से मैंने नहीं समझा था कि हम किस चीज का सामना कर रहे हैं।'

वार्सा काग्रेस में अफ्रीका के एक नीग्रो प्रतिनिधि ने कहा—'अमरीका में नीग्रो जनता का सङ्घर्ष विश्व की औपनिवेशिक जनता के सङ्घर्ष से, ब्रिटिश अफ्रीका, फ्रान्सीसी अफ्रीका, लैटिन अमरीका, वेस्ट इन्डीज के मेरे भाइयों और तमाम दुनियाँ के काले रङ्ग के आदमियो के सङ्घर्ष से सीधे जुड़ा हुआ है। उन सब की तरफ मैं भाईचारे का हाथ बढाता हूँ।'

वार्सा काग्रेस में वियतनाम के प्रतिनिधि ने कहा—'वियतनाम के लोग विश्वशान्ति के लिए दो तरह से लड़ रहे हैं: पहले तो वे फ्रान्सीसी साम्राज्यवादियों और अमरीकी दखलन्दाजों के खिलाफ अपना संघर्ष तेज कर रहे हैं, दूसरे वे विश्वशान्ति आन्दोलन को हर तरह की मदद दे रहे हैं।'

वार्सा काग्रेस मे इडोनीशिया के प्रतिनिधि ने कहा—'इडोनीशिया मे अब भी वही आर्थिक ढाँचा है जो युद्ध के पहले था। इडोनीशिया में विदेशी पूँजी बराबर उँड़ेली जा रही है, मसलन विदेशी साम्राज्यवादियो से, खास कर अमरीका से, कर्ज के रूप मे लगान २०० फी सदी बढ गया है और दूसरे टैक्स लगाये जा रहे हैं। इससे हर इन्डोनीशियन की जिन्दगी पर भार पडता है। मुद्रा-विस्तार बढ रहा है और इडोनीशिया की पुरानी भूमि-व्यवस्था अभी भी बरकरार है।'

इससे जाहिर है कि विश्व-शान्ति का सम्बन्ध प्रत्येक देश की अपनी समस्याओ से है। उन समस्याओ से शान्ति का सम्बन्ध दिखा कर ही शान्ति-सैनिक आम जनता को शान्ति के सघर्ष मे बटोर सकते हैं। जब बात हृदय से निकलती है, तब वह सीधी-सादी और पुरअसर शैली मे होती है। हिन्दी के कुछ प्रगतिशील लेखक इस बारे मे खामोश रहते हैं कि जगत्राज हिन्दुस्तान को युद्ध मे घसीटने के लिए क्या षड्यन्त्र कर रहे हैं। वे ठोस तरीके पर इस बात की मिसाले भी नही देते कि हिन्दुस्तान की मौजूदा समाज-व्यवस्था से विश्व-शान्ति आन्दोलन या युद्ध की तैयारियो का क्या सम्बन्ध हो सकता है। इस ठोस विश्लेषण के अभाव को वे शब्दो की पच्चीकारी से पूरा करने की कोशिश करते हैं। मिसाल के लिए अक्टूबर सन् '५० के 'हस' मे ये वाक्य पढिये—

'क्या आपका कण्ठ आज के इस ऐतिहासिक क्षण में भी रुद्ध ही रहेगा, जब कि मानवता उस जगह पर खडी है जहाँ उसके पास ही, हाथ भर की दूरी पर एक मीलों गहरा, स्याह और अँधेरा खड्ड है जिसमें गिरने पर निकलता नही है, सिर्फ घुटन है और मृत्यु है और दूसरी ओर कुछ दूरी पर शायद काफी दूरी पर हिमाच्छादित पर्वत-शृखला है जो इस बात की जैसे प्रतीक्षा कर रही है कि इस मानव आकर उस पर अपनी विजय-पताका फहराये, जो सघर्षशील, स्वाभिमानी मनुष्य को सकेत दे-

देकर अपने पास बुला रही है और कह रही है और उस ओर को मत जाना उधर अँधेरा है, मौत है, साँप हैं, बिच्छू हैं और भेड़िये हैं।'

इस लम्बे आलंकारिक वाक्य को ऊपर दिये हुए सीधे-सादे वाक्यो से मिलाकर देखे तो यह पता लगने मे देर न लगेगी कि किसके मुँह से शान्ति के लिए सच्ची आवाज निकल रही है। जैसे टुटपुँजिया क्रान्तिवाद से पीडित कुछ लेखक क्रान्ति के बारे मे लफ्फाजी करते हैं, वैसे ही कुछ लेखक शान्ति के बारे मे शब्दो की झडी लगा देते हैं। लेकिन शब्दो के इस भाग मे तत्व कुछ नहीं होता। यह कमजोरी तभी दूर हो सकती है जब हम देश की ठोस परिस्थितियो से शान्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध जोडे।

'हंस' की शान्ति सम्बन्धी टिप्पणियो की एक दूसरी खामी यह है कि उसमे युद्ध की शक्तियो को अत्यधिक भयानक दिखाया जाता है और शान्ति की ताकतो की अजेय शक्ति को कम करके दिखाया जाता है। मसलन 'हंस' के उसी अङ्क मे हम पढते हैं—'ये बादल अगर बरसे तो धरती खून से तर हो जायगी, मानव जाति का नाम तक मिट जायगा, केवल उसकी कहानी रह जायगी।'

पहली बात तो यह कि युद्ध छिडने पर मानव-जाति का नाम मिटने नहीं जा रहा। मानव-जाति जीवित रहेगी और नाश होगा युद्ध छेडने वालो का। दूसरी बात यह कि शान्ति के प्रहरी सोवियत संघ ने युद्ध की शक्तियों को अब तक रोका है, वह दिन पर दिन शक्तिमान होकर नये चीन और यूरोप के नये जनवादी देशो के साथ आज इस बात के लिए भी तैयार हैं कि अगर साम्राज्यवादी युद्ध छेडे तो सदा के लिए उनका मुँह कुचल दिया जाय। पिछली सात नवम्बर को मार्शल बुल्गानिन ने यह बात साफ कर दी थी। लेकिन अक्टूबर, '५० के 'हंस' की इस लम्बी टिप्पणी मे जिसमें हिमालय पहाड़ से लेकर साँप बिच्छू सभी कुछ हैं, श्री अमृतराय ने एक बार भी सोवियत सङ्घ का नाम लेना जरूरी नहीं

समझा। सोवियत सङ्घ के शान्ति-सम्बन्धी प्रयत्नो को अगर प्रगतिशील पत्र-सम्पादक जनता के सामने नही लायेंगे तो कौन लायेगा? इस सिलसिले मे 'हस' और 'नया साहित्य' ने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल नाकाफी है और इन पत्रा की और खामियो में यह सबसे बड़ी खामी है।

जनता से अलगाव—यानी सकीर्णतावाद—का यह भी एक रूप है।

सिद्धान्त रूप मे श्री अमृतराय सोवियत सङ्घ से मित्रता पर काफ़ी जोर देते हैं लेकिन अमल मे वह काफ़ी तटस्थ नजर आते हैं।

यह दिलचस्प बात है कि व्यवहार और विचार की एकता पर श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री अमृतराय दोनों जोर देते हैं लेकिन दोनो ही के अमल और उसूलो में गहरा अन्तर मिलता है।

अक्टूबर सन् '५० के 'हस' में श्री अमृतराय लिखते हैं—'हमारे कबीरदास कह गये हैं कि कथनी और करनी मे बड़ा फर्क होता है। इसलिए केवल कथनी से अगर हम किसी को जॉचने लगेंगे तो धोखा खायॅगे। हमें करनी को भी देखना होगा।'

बात बिल्कुल ठीक है। मै यहाँ पर एक सवाल लूँगा—आलोचना में शैली का सवाल।

नवम्बर सन् '५० के 'हस' में श्री अमृतराय लिखते हैं—'हिन्दी साहित्य में श्री इलाचन्द्र जोशी जैसे कुछ मलाहारी यथार्थवादी हैं '

इलाचन्द्र जी की विचारधारा, से मेरा तीव्र मतभेद है लेकिन मै यह जानता हूँ उस विचारधारा के असर में बहुत से साम्राज्यविरोधी लेखक भी हैं। इसलिए शिष्टता के नाते न सही, नीति के लिहाज से भी ऐसे वाक्य लिखना प्रगतिशील आलोचना के लिए घातक है।

जनवरी सन् '५१ के 'हस' मे श्री अमृतराय ने यशपाल के बारे में लिखा है—'और इसीलिए उसको 'धर्मरक्षा' और 'प्रतिष्ठा का बोझ' जैसी घासलेटी, रडी के दलालों की-सी कहानी लिखते देखकर मन एकदम गुस्से और तकलीफ से भर जाता है।'

यह शैली न आवेशपूर्ण है, न हास्यपूर्ण है, न ओजपूर्ण है, यह एकदम जलील है। अगर इस सतह पर 'हस' बहस चलायेगा तो उसमे कितने आदमी हिस्सा ले सकेंगे ?

नवम्बर सन् '५० के 'हस' मे श्री अमृतराय ने प्रेमचन्द के बारे मे लिखा है—'क्या मुसलमान काग्रेस के साथ नही हैं ?' शीर्षक अपनी टिप्पणी मे उन्होंने मॅझोले ढङ्ग के काग्रेस नेता या साधारण पढे-लिखे काग्रेसमैन की तरह काफी चलते-फिरते ढङ्ग से इस सवाल को यह कह कर टाल दिया है कि कुछ थोड़े-से खाँ बहादुर भले न हों (उसी तरह जैसे रायबहादुर भी नही हैं) मगर मुसलिम जनता तो काग्रेस के साथ है। अगर उन्होने ऐसा न करके गहराई से इस हकीकत को स्वीकार करके उस पर विचार किया होता कि • '

यह जान कर मुझे काफी खुशी हुई कि चलते-फिरते ढङ्ग से मैंने ही बौद्ध दर्शन पर न लिखा था बल्कि प्रेमचन्द जी ने भी साम्प्रदायिकता पर एक टिप्पणी यो ही लिख दी थी। और कुओ मों जो की सीख पर मैंने ही ठहर कर गौर न किया था, प्रेमचन्द जी ने भी गहराई से हकीकत को स्वीकार करके साम्प्रदायिकता पर विचार नहीं किया था। श्री अमृतराय की आलोचना के बावजूद उनकी गहराई के मुकाबले मे मुझे प्रेमचन्द का चलते फिरते विचार करना ही ज्यादा पसन्द है।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त एक ही वाक्य मे भारत के तीन विश्वविख्यात कवियो को निपटाते हुए कहते हैं—'हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालीदास और तुलसी ने रघुकुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्यसत्ता को भारी सहारा दिया।' चन्द बरदाई और भूषण का जिक्र करने के बाद अफसोस के साथ कहते हैं—'सामन्ती काल मे इसके अतिरिक्त और कुछ सम्भव भी न था।'

मेरे कुछ मित्र कहते है कि रामविलास की आलोचना गैर सजीदा

होती है। अगर बाल्मीकि और तुलसी पर उनकी ये सूक्तियाँ पढकर मै सजीदा रहने मे असफल होता हूँ तो इसमे मेरा क्या कसूर है?

प्रकाशचन्द्र जी लोकप्रिय शैली के समर्थक हैं। मार्च ५१ के 'नया साहित्य' मे वह लिखते हैं—'हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचार-दर्शन को आज नहीं अपना सकते, उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडी' के समान अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध, उनके काव्य का जन सुलभ रूप आदि अनेक तत्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।'

आश्चर्य की बात है कि जनता से प्रेम रखते हुए, उससे निकटतम सम्बन्ध रखते हुए भी सूर और तुलसी सामन्तो के हित की ही बातें करते रहे मानो उस समय दरबारी सस्कृति और जन-सस्कृति में कोई भेद न था। इसलिए उनकी तमाम सस्कृति को प्रकाशचन्द्र जी अजायबघर में रख देते हैं। इन्ही कवि तुलसीदास की रचनाओ का अनुवाद करने के लिए सोवियत सरकार ने दूसरे महायुद्ध के दिनो में बरन्निकोव को लेनिनग्राद से हटा कर सुरक्षित कजाकिस्तान भेजा था और चार साल तक रामायण का अनुवाद करने के बाद भारत में सोवियत दूतावास खुलने के वक्त तुलसी को जनवादी कवि कहते हुए भारत और सोवियत की मैत्री दृढ करने के लिए बरन्निकोफ ने अपना अनुवाद प्रकाशित कराया था।

प्रकाशचन्द्र जी ने जनता से प्रेम करके क्या सीखा है? 'मैमथ' और 'डोडो' की उपमाएँ देना!

× × ×

साहित्य में सयुक्त मोर्चे के निर्माण में 'हस' और 'नया साहित्य' की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। सकीर्णतावाद के खिलाफ लड़ने वाले साथियो के सदुद्देश्य की सराहना करते हुए मैं उनसे निवेदन करूँगा कि आज हम उस परिस्थिति मे हैं जब मन भर उपदेश के मुकाबले में

छटॉक भर आचरण का महत्त्व बहुत ज्यादा है। 'हस' के पिछले छ. अको मे बनारस के लेखको ने कितना लिखा है और 'नया साहित्य' के पिछले छ अकों मे इलाहाबाद के लेखको ने कितना लिखा है, इस पर हम गौर करे तो देखेगे कि ये पत्र बनारस और इलाहाबाद का प्रतिनिधित्व ज्यादा करते हैं, आम स्वाधीनता-प्रेमी लखको का प्रतिनिधित्व कम करते हैं। छ. महीने तक सयुक्त मोर्चे की चर्चा करने के बाद अमल मे ये छोटे-छोटे गुणो के पत्र बने हुए हैं। जिस तरह इनके पढने वाले एक-दो शहरो के नहीं हैं, उसी तरह इनमे लिखने वालो का भी ऐसा जमाव होना चाहिए जिसमे हिन्दी के तमाम प्रगतिशील लेखक खास कर नये उभरते हुए लेखक मौजूद हो—हर अक मे नहीं लेकिन उस तरह जिस तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' अपने युग का प्रतिनिधित्व करती थी।

साहित्य मे सयुक्त मोर्चे का उद्देश्य स्वाधीनता और जनतन्त्र है। इसीलिए यह मोर्चा साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी लेखको का होना चाहिये। इसके सङ्गठनकर्ता आलोचना के सैद्धान्तिक स्तर को जितना ही ऊँचा करेंगे, जनता से घनिष्ठ सम्पर्क कायम करके उसके बारे मे लिख कर खुद मिसाल पेश करेंगे, अपने व्यवहार और विचारो मे जितनी ही एकता पैदा करेंगे, उतना ही सयुक्त मोर्चों के निर्माण मे उन्हें सफलता मिलेगी।

हिन्दी साहित्य के पिछले २५ वर्ष

इस लेख का उद्देश्य पिछले पचीस वर्षों के हिन्दी साहित्य का इतिहास पेश करना नहीं है, वरन् इस बीच के साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियो को परखना और आज की परिस्थितियों मे नयी साहित्य-रचना के लिए कुछ निष्कर्ष सामने रखना है। प्रसङ्गवश जहाँ लेखकों की व्यक्तिगत आलोचना की गई है, वह गौणरूप से, प्रमुख साहित्यकारो पर भी अपना मत प्रकट करना मेरा लक्ष्य नहा है।

सन् बीस तक नये हिन्दी साहित्य के दो युग समाप्त हो चुकते हैं— एक भारतेन्दु युग और दूसरा द्विवेदी युग। वीरगाथा काल या रीतिकाल के खत्म होने मे जितना समय लगा था, उससे कही कम वक्त इन दो युगो ने लिया। १८वीं सदी के अन्त मे सामाजिक जीवन मे जो परिवर्तन हुए, उन्ही के फलस्वरूप साहित्य-ससार मे भी यह गति पैदा हुई।

सन् बीस के बाद देश और साहित्य के इतिहास मे एक नया अध्याय शुरू हुआ। हिन्दुस्तान ने कभी न भुलाये जाने वाले दमन के दृश्य देखे। रौलट ऐक्ट और जलियानवाला बाग इस बात की सूचना दे रहे थे कि युद्धकाल मे किये गये वादो को तोड कर अङ्गरेज हुकूमत सगीनो के सहारे राज करने पर तुली हुई है। यूरोप मे रूस की जनता ने साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का जुआ उतार फेंका था और गुलाम देशो के सामने मिसाल रखी थी कि जनता की एकता के सामने साम्राज्य-वादियों के बम और तोपे सब अकारथ हो जाते हैं। हिन्दुस्तान के महान् लेखक वल्लतोल, रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द आदि ने रूसी क्रान्ति और नयी सोवियत सभ्यता का स्वागत किया, इसलिए कि रूसी क्रान्ति

की विजय भारतीय जनता को स्वाधीनता-सग्राम मे विजय पाने का निमत्रण दे रही थी।

सन् बीस मे हमने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली मजिल देखी। हिन्दू-मुस्लिम जनता की एकता देखकर साम्राज्यवादियो के छक्के छूटने लगे। हिन्दुस्तानी किसान जो इसखेतिहर देश का ६० फी सदी हिस्सा है—एक हद तक इस आन्दोलन मे शामिल हुआ। साम्राज्यवाद के मुख्य आधार—सामन्तशाही—से टक्कर लेने को वह बेचैन होने लगा। जगह-जगह उसने सरकारी ताकत से जोरदार मुठभेड़ की और आन्दोलन को उग्र रूप देना शुरू किया। साम्राज्नवाद से समझौता करने वाले नेताओ को यह बात पसन्द नहीं थी। उन्होंने जनता को स्वराज्य के अयोग्य बता कर आन्दोलन को ठप कर दिया। इसके बाद अङ्गरेजो और रायबहादुरो—खानबहादुरो की बन आई। उन्होने कानपुर के से भयानक दगे कराये और ऊँची-ऊँची हॉकने वाले नेताओ को कौसिलो के पिजड़ो मे बन्द कर दिया।

इसी समय नवाब राय नाम का व्यक्ति सरकारी नौकरी पर लात मार कर राष्ट्रीय आन्दोलन मे शामिल हुआ और देश-सेवा का मुख्य माध्यम उसने बनाया अपने कथा-साहित्य को। बनारस के पास एक गॉव में पैदा होने वाले, ट्यूशनों से पढाई करने वाले, लखनऊ की सैकेण्डहैण्ड किताबों की दुकानो पर पुराण और तिलस्मी नावेल पढ़ने वाले, बचपन मे शादी का बोझ ढोने वाले इस डेढ़ पसली के आदमी ने साहित्य मे एक नये युग को जन्म दिया। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' लिखकर हिन्दी को पहला ऊँचे दर्जे का सामाजिक उपन्यास दिया और 'प्रेमाश्रम' लिखकर राष्ट्रीय आन्दोलन और किसानों के सङ्घर्ष का पहला विशद चित्र जनता के सामने रखा। 'प्रेमाश्रम' की रचना न सन् १६२० के पहले हो सकती थी जब इस तरह के सङ्घर्ष शुरू न हुए थे और न सन् ३० के बाद हो सकती थी जब प्रेमचन्द यह समझ गये थे कि इस

सङ्घर्ष को समझौतों से रोकना नामुमकिन है। सन् २० से सन् ३० के दशक की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक और उस समय के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की सबसे सुन्दर झाँकी 'प्रेमाश्रम' है।

प्रेमचन्द ने दिखाया कि जनता और साम्राज्यवाद के सङ्घर्ष में साहित्य तटस्थ नहीं है और समाज के साथ आगे बढ़ते हुए ही उच्च साहित्य की रचना की जा सकती है।

इसी दशक में हिन्दी कविता के नये युग छायावाद ने अपनी रूप-रेखा निखारी। 'मतवाला' उस जमाने का एक निडर साम्राज्य-विरोधी पत्र था। उसकी टिप्पणियाँ कविताएँ, कहानियाँ वगैरह बड़े चाव से पढ़ी जाती थी। 'मतवाला' के साथ 'निराला' का जन्म हुआ। आधे कलकतिया बाबू, आधे गढ़ा-कोला के किसान, अर्द्धनारीश्वर के समान निराला ने एक तरफ 'मतवाला' मे 'चाबुक' फटकारना शुरू किया, तो दूसरी तरफ रहस्य-रागिनी भी अलापी। एक तरफ रहस्यवाद और पलायन, दूसरी तरफ रूढिवाद को चुनौती, छायावाद का यह द्वन्द्वरूप निराला मे प्रत्यक्ष हो उठा था। विश्व साम्राज्यवाद के खिलाफ पीड़ित जनता की विप्लव-कामना को प्रकट करते हुए निराला ने लिखा—

'रुद्धकोष है, क्षुब्ध तोष,
अङ्गना-अङ्ग से लिपटे भी।
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं,
धनी, वज्र-गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं!
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
रे विप्लव के वीर!'

कृषक विप्लव-कामना क्यों न करता? साम्राज्यवाद ने उसे लाठी अकाल और महामारी के अलावा और क्या दिया था? शासक वर्ग की

कमजोरी—आतङ्क का सहारा लेने पर भी कॉपना और किसानो के जीर्ण-शीर्ण हाने पर भी उनकी दुर्धर्ष विप्लवी आकाक्षा—यह युग-सत्य अनूठे ढङ्ग से इस कविता में व्यक्त हुआ है।

छायावादी कवियो ने मुख्यतः सङ्घर्ष किया—रीतिकालीन परम्परा के ख़िलाफ। साहित्य मे यह सङ्घर्ष अनिवार्य था। रीतिकालीन परम्परा का सामाजिक आधार थी सामन्तशाही। यही सामन्तशाही अब अगरेजी राज का भी मुख्य सामाजिक आधार बन चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन मे किसानो का जमींदारों और राजाओ से लडना साहित्य से मॉग करता था कि सामन्तशाही की सास्कृतिक परम्परा को खत्म किया जाय। इस बारे में पन्त, प्रसाद, निराला—छायावाद के तीनो महारथी एक थे। 'पल्लव' की भूमिका मे पतजी ने रीतिकालीन रूढ़िवाद की कडी आलोचना की, यद्यपि उसमे उन्होंने गलत ढङ्ग से सत कवियो को भी घसीट लिया। प्रसाद ने अपने निबन्धों मे नयी रोमाटिक कविता का समर्थन किया और निराला ने तो अपने चुभते व्यग्यबाण चलाकर तमाम रूढिवादियों को अपना शत्रु बना लिया।

निराला ने ललकारा—'हिन्दी साहित्य की पृथ्वी अब ब्रजभाषा का प्रलयपयोधि नहीं है, यह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवान-सिवेदम्' के भक्तो की नजर मे अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहों मालूम बेवक्त की शहनाई के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर बावन जिले के कवि ढेर हो जाते हैं।'

छायावादी कवि रीतिकालीन रूढ़िवाद से तटस्थ नहीं थे वरन् उसे निर्मूल करने में सबसे आगे थे। इसीलिये उन्हें साहित्यिक पडों का कोपभाजन बनना पड़ा। रूढिवाद से लोहा लिये बिना साहित्य की प्रगति असम्भव थी। यह सङ्घर्ष सामन्तशाही के खिलाफ जनता की लड़ाई का जरूरी अङ्ग था।

जो लोग छायावादी कवियो के रहस्यवादी पक्ष को उछाल कर उसे उनकी मुख्य देन बताते हैं, वे छायावादी साहित्य की कमजोरी को आँख खोलकर देखने के बदले उसे शहजोरी कहकर पेश करते हैं। छायावादी कवियो मे परिवर्तन और प्रगति की इच्छा अवश्य थी लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर इतिहास ने अभी क्रान्तिकारी मजदूर-वर्ग के हाथ मे न सौंपी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन समझौते और सङ्घर्ष के विषम मार्ग पर चल रहा था। इसलिये निराशा, पस्ती, उदासी खुदा से इबादत, कभी ससार मे प्रकाश ही प्रकाश और कभी अन्धकार ही अन्धकार के दर्शन, छायावाद की इस असङ्गति का एक सामाजिक आधार था। राष्ट्रीय आन्दोलन के सङ्गत रूप से साम्राज्य विरोधी होने से ही इस निराशावाद का खात्मा हो सकता था।

छायावाद की क्रान्तिकारी साम्राज्य-विरोधी परम्परा सन् ३० के बाद के साहित्य में पनपती और विकसित होती रही। उसकी निराशावादी, पलायनवादी परम्परा क्रमशः क्षीण होती हुई अन्धकार मे विलीन होती गई।

सन् '२०-'३० के दशक के छोर पर एक अज्ञात नाम अध्यापक ने काशी विश्वविद्यालय में आकर हिन्दी आलोचना मे एक नया युग उपस्थित कर दिया। अब तक मिश्र बन्धुओ के नवरत्नों का बोलबाला था, देव और बिहारी की होड़ आलोचना का मुख्य विषय थी। छायावादी कवियों ने स्फुट आलोचनाएँ लिखी थी। इस व्यक्ति ने नये सिरे से साहित्य का इतिहास लिखने का काम उठाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास दरअसल हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस इतिहास ने रीतिकालीन परम्परा को आचार्यों के अखाड़े में परास्त किया। इस तरह उसने छायावाद का समर्थन किया, यद्यपि प्रत्यक्षरूप से वह छायावाद का कटु आलोचक था। आगे चलकर शुक्लजी ने छायावाद के प्रति अधिक सहृदयता दिखाई, लेकिन रीतिकालीन परपरा

पर अपने आक्षेप ज्यो के त्यों रहने दिये जो एकदम उचित था। साहित्य से लोकहित की माँग करना और उसे लोकहित से दूर रखने का विरोध करना—शुक्लजी की आलोचना की यह मुख्य देन है। 'वाग्धारा बँधी हुई नालियों मे ही प्रवाहित होने लगी'—यह सोलह आने नपी-तुली उक्ति रीतिकालीन परम्परा पर उनके विचार प्रकट करती है। खास तौर से केशवदास के प्रेतकाव्य की जो आलोचना शुक्लजी ने की थी, उससे चन्द्रवदन मृगलोचनी वर्ग द्वारा बाबा कहे जाने वाले कुछ स्वनाम-धन्य उद्भट् आचार्य आज भी तिलमिला उठते हैं।

शुक्ल जी ने लिखा था—'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमे वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि मे होनी चाहिए वे सस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिये, वैसा उन्हें प्राप्त न था।'

विश्वविद्यालयों के अध्यापको मे शुक्लजी पहले आचार्य थे जिन्होने रीतिकालीन रूढिवाद की तरफ यह समझौता न करने वाला विरोधी रुख अपनाया था। उन्होने आलोचक की तटस्थता का मार्ग छोड़कर न्याय के पक्ष-समर्थन का मार्ग अपनाया।

कुल मिलाकर सन् '२०—'३० का दशक साहित्यिक सरगर्मी का दशक था और इसी दशक में नये हिन्दी साहित्य के महारथी पन्त, प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल रङ्गमच पर चमके। इस साहित्यिक सरगर्मी का मुख्य कारण हमारा स्वाधीनता-आन्दोलन था जिसने बुद्धिजीवियों में एक नयी प्रेरणा, एक नयी सृजन-चेतना उत्पन्न कर दी थी। इस साहित्य की सीमाएँ उस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन की ही सीमाएँ थीं।

सन् '३० के बाद स्वाधीनता आन्दोलन ने फिर कदम उठाया और साम्राज्यवाद को ललकारा। अँग्रेजों ने तुरन्त गोलमेज के स्वाग मे

सुधारवादी नेताओ को फँसाया, साम्प्रदायिक नेताओ को बढावा दिया जिन नेताओ ने सन् २० मे लगानबन्दी आन्दोलन का विरोध किया था, उन्होने ही इस बार भी स्वाधीनता आन्दोलन को किसान क्रान्ति का रूप न लेने दिया। अनुभव ने साबित कर दिया कि सामन्त विरोधी आदोलन मे ९० फीसदी किसान-जनता को लाये बिना स्वाधीनता-सग्राम सफल नहीं हो सकता।

गोलमेज अभिनय खत्म, फिर आन्दोलन शुरू, फिर दमन और अन्त मे हरिजन उद्धार मे हरि-हरि! अँग्रेजो ने सन् '३५ का ऐक्ट भेंट किया। पहले पद-ग्रहण का विरोध, फिर मन्त्रिमण्डलो का निर्माण। जनता के सचेत अश पुरानी लीक छोड़कर नयी लीकें ढूँढ़ने लगे।

निराला ने 'देवी', 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि नये ढङ्ग के स्केच लिखे जिनमे पीडित किसानो के व्यग्य और हास्य से पूर्ण यथार्थवादी चित्र दिये। पत ने छायावाद को गुडबाई कहते हुए 'रूपाभ' निकाला लेकिन नक्षत्रलोक का मोह न छोड़ सके। महादेवीजी ने दुख-भरी रागिनी के अलावा ग्रामीण जीवन पर स्केच लिखे, प्रेमचन्द ने गोदान, कफन, मङ्गल सूत्र मे साम्राज्यवादी और सामन्ती शोषण के अनुपम चित्र खींचे। इसी समय अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना हुई जिसका ध्येय साम्राज्य-विरोधी साहित्य की रचना करना और स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढाने के लिए साहित्य को सशक्त अस्त्र के रूप मे प्रयोग करना था। प्रेमचन्द ने 'हस' की टिप्पणियो द्वारा साम्राज्यवादियो के सोवियत-विरोधी प्रचार का खडन किया और नये लेखको को आगे बढाने मे बहुत बडी मदद दी।

लखनऊ प्रगतिशील लेखक सम्मेलन मे सभापति पद से दिये गये अपने भाषण में प्रेमचन्द ने दरबारी परम्परा की धज्जियाँ उड़ाते हुए कहा—'प्रेम का आदर्श वासनाओ को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृङ्गारिक भावो को प्रकट करने मे कवि-मण्डली अपनी

प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी ऐसे पतन के काल मे लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य मे मन रमाते हैं।'

प्रेमचन्द ने अपने इस भाषण मे साहित्य और साहित्यकार की तटस्थता का जोरों से खडन किया और शोषको का साथ छोड़ कर जनता की सेवा करने के लिए आह्वान किया। 'हमे सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक वह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढङ्ग की थी।' यह थी प्रेमचन्द की ललकार जिसके सामने तटस्थता का नारा देने वाले बगलें झाँकने लगे। प्रेमचन्द एक नये युग की देहरी पर खड़े हुए तमाम लेखको से कह रहे थे—आओ, अपने सौन्दर्य की कसौटी बदलो। जनता की सेवा करके अपने साहित्य को ऊँचा बनाओ। बहुत ही दर्द और जोश के साथ 'गोदान' के निर्माता ने कहा—'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरजन का सामान जुटाना नही है — उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।' प्रेमचन्द के लिए साहित्य राजनीति और देशभक्ति के आगे जलने वाली मशाल था। साहित्य के प्रति अराजनीतिक और सिद्धान्तहीन दृष्टिकोण के वह शत्रु थे। वह सजग राजनीति और उच्चकोटि की देशभक्ति से साहित्य को अनुप्राणित करना चाहते थे। अपनी इस भावना के अनुसार वह 'मगल सूत्र' मे साम्राज्य विरोधी सघर्ष का चित्रण करते हुए स्वय जीवन-सग्राम में जूझते हुए खेत रहे।

हिंदी मे जो लेखक प्रेमचन्द की क्रातिकारी परम्परा को आगे बढा सकता था और उस परम्परा के सबसे निकट था, वह था बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस'। 'पढ़ीस' नाम से वह अवधी मे कविताएँ लिखते थे, 'लामजहब' नाम का एक कहानी सग्रह उनका प्रकाशित हुआ था।

इस व्यक्ति में साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। उसने एक सामती राज्य की नौकरी छोड़ी, रेडियो स्टेशन से इस्तीफा दिया। ब्राह्मण कुल में 'दाग लगाकर' हल जोतकर परिवार का पालन किया और अन्त में हल से घायल होकर अकाल ही जीवन लीला समाप्त कर दी। दीक्षित जी को शैली जितनी सीधी, उतनी ही सशक्त, जितनी चित्रमय, उतनी ही व्यग्यपूर्ण, जितनी ही सयत, उतनी ही क्रातिकारी थी। वह हिंदी मे भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला की बराबरी के शैलीकारो में से थे। समाज सेवी प्रकाशकों ने जब भारतेन्दु के निबधो का ही कोई सग्रह अभी तक नहीं निकाला, तब पढीस के लेखो और स्केचो के सग्रह की बात ही क्या !

हिंदी के लेखक जब भी किसान जनता के नजदीक जायेंगे, जन-साधारण की इज्जत करना सीखेंगे, किसानों से सीखकर अत्यन्त नम्र-भाव से उनकी सेवा करने का व्रत लेंगे, तब बलभद्र दीक्षित में उन्हें उसी राह पर आगे चलने वाला एक सैनिक दिखाई देगा और वे उनके जीवन और उनकी कला दोनों से प्रेरणा पायेंगे। नरेन्द्र शर्मा ने ठीक लिखा था—

'वह हिन्दी का लेखक था,
खून तपा कर लिखता था !
तन जर्जर, मन जोशीला,
तन टूटा, मन अडिग रहा !
होरा मन पर घन बरसे,
एक बार उफ नहीं कहा !
सूख चुका प्यारा पौदा,
नयी पौद पर लगा गया !
सूक सुबह को डूब गया,
आता है दिन और नया !'

उपन्यास लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा ने जनता को निकट से देखते-परखते हुए अपने राजनीतिक और सामाजिक उपन्यासो में बुन्देलखड के किसानों का चित्रण किया। वर्मा जी मे कहीं-कहीं रोमाटिक सौंदर्य के कल्पना लोक मे उडान भरने की प्रवृत्ति है तो कहीं-कहीं पुनरुत्थानवाद की छाया भी उन पर पडती दिखाई देती है। फिर भी बुन्देलखड की ग्रामीण जनता किसी के कथा-साहित्य मे अवतरित हुई है तो वर्मा जी के उपन्यासों मे। 'झाँसी की रानी' मे उनकी साम्राज्य-विरोधा चेतना देखते ही बनती है। उन्होने नानासाहब जैसे सामतो को जरा भी माफ नहीं किया जो अपने सुख-चैन को देश की आजादी से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। 'झाँसी को रानी' का मुख्य पात्र है झाँसी की जनता जिसके अनेक सुन्दर चित्र इस उपन्यास में मिलते हैं।

प्रेमचन्द के निधन के बाद ससार मे एक महान् घटना घटी—दूसरा महायुद्ध। विश्व साम्राज्यवाद का सङ्कट गहरा हुआ। हिन्दुस्तान में स्वाधीनता-आदोलन छेड़ने की माँग होने लगी। काग्रेसी नेताओं ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के मार्ग पर चल कर साम्राज्यवाद को असमञ्जस मे न डालने की नीति अपनाई। सन् ४१ में हिटलर ने सोवियत सङ्घ पर हमला करके विश्वविजय का अभियान शुरू किया। जिस रूसी क्राति ने विश्व-साम्राज्यवाद में पहली दरार डाली थी, उस रूसी क्राति के फल को नष्ट करने के लिए खूनी फासिज्म ने यह हमला किया था। हिन्दुस्तान के लोग चाहते थे कि अपनी आजाद हुकूमत बना कर सोवियत सङ्घ का साथ दें। अग्रेज यह कब चाहते थे। उन्होंने बर्बर दमन के जरिये जनता के विरोध को कुचल दिया। किसान-क्रान्ति को धुरी न बनाने की वजह से और दुनियाँ की फासिस्ट विरोधी जनता के सङ्घर्ष से अलग हो जाने के कारण इस साम्राज्य-विरोधी मुहिम का जल्द खत्म हो जाना लाजमी था।

साम्राज्य विरोधी लड़ाई का रास्ता छोड़ने का मतलब है—आपसी

दङ्गा-फसाद, क़त्लेआम और साम्राज्यवाद की मदद—यह सबक हमे स्वाधीनता-आन्दोलन से मिलता है।

प्रेमचन्द के निधन से १५ अगस्त सन् ४७ तक एक युग समाप्त होता है। इस बीच मे यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र, राहुल साकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, दिनकर, सुमन, नरेन्द्र, आदि-आदि लेखको की नयी-नयी रचनाएँ हमारे सामने आई। युद्धजनित परिस्थितियो ने रीतिकालीन रूढिवाद को दफना दिया और लेखक खुलकर निराशावाद, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद के खेमे मे या समाजहित, साम्राज्य-विरोध, आशावाद के खेमे मे खडे होने लगे। खास तौर से बङ्गाल के अकाल ने उन साहित्यकारो को भी कल्पनालोक से निकलने पर मजबूर किया जो साहित्य को अशाश्वत सामाजिक समस्याओ से दूर रखने के पक्ष मे थे। सोवियत सङ्घ की विजय ने जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यवाद को दुनिया के नक़्शे से मिटाकर विश्व-पूँजीवाद मे दूसरी जबर्दस्त दरार डाली। इसका असर हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। खास तौर से एशिया के जन आन्दोलन ने हमारे लेखका को अनुप्राणित किया और उन्होंने उस पर अनेक सुन्दर कविताएँ लिखीं। साम्राज्यवाद की साम्प्रदायिक दगोवाली नीति का उन्होंने तीव्र विरोध किया।

सन्' ४७ में अहिंसावाद के प्रताप से हमे स्वाधीनता मिली। अङ्गरेजो का हृदय-परिवर्तन हो गया। लेकिन इसके भी पहले अमरीकी साम्राज्यवादी हृदय परिवर्तन करके फिलिपिन को आजाद कर चुके थे। सन् ४७ के आसूपास अङ्गरेजो ने बर्मा को भी आजाद कर दिया, पाकिस्तान को तो पैदायशी आजादी दी, उधर डचो ने इन्डोनीशिया को आजाद कर दिया। साम्राज्यवादी खेमे मे अहिसावादी आजादी की बाढ़ आ गई। कहाँ सोवियत रूस ने सन् १७-'२० और सन्' ४१-४५ के दो घनघोर सग्रामो द्वारा साम्राज्यवादी खेमे मे दरार डाली थी, कहाँ अहिंसावाद के प्रताप से अग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादी—हर जगह

आजादी पर आजादी दिये चले जा रहे थे! सिर्फ मलाया की जनता को रूस से बचाने के लिए अगरेज अब भी वहाँ लड रहे हैं, वियतनाम को रूस से बचाने के लिए फ्रासीसी वहाँ लड़ रहे हैं, कोरिया को रूस से बचाने के लिए वहाँ अमरीकी और उनके साथ आजादी बख्शने वाले अगरेज लड़ रहे हैं।

तीसरे महायुद्ध का ज्वालामुखी फूट रहा है— एशिया की धरती पर, यहाँ की जनता को साम्राज्यवाद का गुलाम बनाकर रखने के लिए!

अगस्त सन्' ४७ से अगस्त सन् ५० तक के तीन वर्षों मे हिन्दुस्तान की जनता ने बहुत से सबक सीखे हैं। सन्' ४७ की आजादी किस तरह की आजादी है, किसको मिली है, किसे उससे फायदा है, इसे वह तजुर्बे से देख चुकी है। तजुर्बा सिखा रहा है कि जनता का सयुक्त मोर्चा ही सुराज कायम कर सकता है और जनता के दुख-दर्द दूर कर सकता है। और इस सयुक्त मोर्चे को सामना करना है देशी सामन्तशाही का, साम्राज्यवादियों से गठबन्धन करने वाले बड़े पूँजोपति यो का और हिन्दुस्तान मे मौजूद ब्रिटिश—अमरीकी पूँजी का भी जिसकी हिफाजत करने के लिए साम्राज्यवादी कुछ भी उठा न रखेंगे।

पिछले दो वर्षों का साहित्य जनता के कटु अनुभवों का साहित्य है। इस बीच में कुछ लेखक आराम की जगहें खोजते हुए—अपनी सुविधा के अनुकूल साहित्य के सिद्धान्तों की जय बोलते हुए—शासक-वर्ग के चाटुकार बन गये हैं। वे चाहे जितना चैतन्य और प्रकाश की बातें करें, वे हैं अन्धकार मे ही। वे चाहे जितना प्राचीन सस्कृति की दुहाई दें, वे हैं सस्कृति के दुश्मन ही। दिन पर दिन साम्राज्यवाद से समझौता करने वाले नेताओ का पर्दाफाश होता जाता है और लाठी, गोली, भुखमरी के राज की हिमायत करके आज कोई भी साहित्यकार के लिए तटस्थ रहना नामुमकिन है। उसमें जरा भी ईमानदारी बाक़ी होगी तो उसे जनता का साथ देना होगा।

हिन्दुस्तान की जिस धरती ने तुलसी, सूर, भारतेन्दु, रवीन्द्र और प्रेमचन्द को पैदा किया है, वह ज्यादा दिन तक भुखमरी और गुलामी के जुए के नीचे नहीं पिस सकती। आज एशिया की जनता अपने भाग्य का निर्माण स्वय अपने हाथो कर रही है।

चीन के विजयी स्वाधीनता सग्राम ने एशिया में साम्राज्यवाद का तख्ता पलट दिया है और विश्व-साम्राज्यवाद में तीसरी जबर्दस्त दरार डाल दी है। हिन्दुस्तान की जनता के साथ ससार की तमाम जनता है जो युद्ध नहीं चाहती, शान्ति चाहती है, जो गुलामी नही चाहती है, जो अशिक्षा और बेकारी नहीं चाहती—रोटी, रोजी और शिक्षा चाहती है। स्थायी शान्ति और सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तानी जनता की एकता उसे नये सुखी जीवन की तरफ ले जायगी और तमाम साम्राज्य विरोधी लेखक उसका साथ देगे।

साहित्य और सामयिकता

'अमर' कलाकारों के लिए साहित्य और सामयिकता की समस्या नयी नहीं है। समाज की अवस्था बदलती रहती है, और इसी परिवर्तन-क्रम के बीच मे साहित्यकार भी रहता है। उसे भय होता है कि बदलती हुई अस्थायी चीजो के बारे मे लिखने से कला की अमरता मे बट्टा न लग जाए। इसलिए साहित्य के धुरधर आचार्य उन तत्वो को ढूँढ निकालने की कोशिश करते रहते हैं जिनसे अमर पद प्राप्त करने में कोई दुविधा न रह जाये। इसके लिए वे बड़े-बड़े लक्षण-ग्रन्थों की सृष्टि करते हैं, कविता-कामिनी को नियम-उपनियमो से यो बॉध देते हैं कि पहचानने मे भूल की गुञ्जाइश ही न रहे। वे और सब बातें तो देखते हैं, भूत और भविष्य उनके लिए हस्तामलकवत् होता है, वे केवल एक चीज नहीं देखते—समय के प्रवाह को, समाज की गति को। इसका परिणाम यह होता है कि शाश्वत सौन्दर्य की खोज करने वाले ऐसी अशाश्वत कौड़ी लाते हैं कि कुछ निठल्ले लोगो के सिवाय और कोई भी उनकी रचनाएँ नहीं पढता। यह स्पष्ट है कि हम टिकाऊ और प्रभावशाली साहित्य की रचना तभी कर सकेंगे जब समाज की गतिविधि को पहिचानेंगे, समाज के प्रगतिशील वर्ग से नाता जोड़ेगे, प्रतिक्रिया-वादी शक्तियो का विरोध करेंगे और अपनी रचना द्वारा समाज की प्रगति में सहायक होगे।

हिन्दी साहित्य मे जब से प्रगतिवाद की चर्चा शुरू हुई है, तब से लोगों ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया है। अधिकाश लेखकों ने अनुभव किया है कि वे सामयिक घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनो पर लेखनी न उठायेंगे तो पीछे रह जायेंगे और उनका साहित्य निर्जीव

हो जायेगा। इस चेतना के फलस्वरूप कल्पना-लोक के निवासी भी संघर्ष की धरती पर उतर आये हैं। पिछले दस साल मे जो साहित्य रचा गया है, वह अपने समय की प्रमुख घटनाओ और सामाजिक परिवर्तनो का अच्छा-खासा प्रतिबिम्ब है। जो लेखक इस सामाजिक-क्रम मे गहरे पैठ सका है, वह टिकाऊ साहित्य दे पाया है। जो कलाकार समुद्र के किनारे शाश्वत सौन्दर्य के पत्थरो से खेलते रहे, उनकी बुरी दशा हुई। उनकी मिसाल से यह साबित हो गया कि तमाम लक्षण ग्रन्थ रट लेने और कला की बारीकियाँ समझ लेने पर भी कोई लेखक महान् कलाकार नहीं हो सकता जब तक कि सामाजिक गतिविधि से उसके साहित्य का गहरा सम्बन्ध न हो।

आज हमारे देश मे एक अभूत-पूर्व क्रान्तिकारी उठान दिखाई दे रहा है। बम्बई के नाविक-विद्रोह से लेकर कलकत्ते की ट्राम-हड़ताल तक समस्त घटना-क्रम यही बताता है कि हम एक नये युग में प्रवेश कर रहे हैं। जनता मे नया साहस, नयी चेतना जाग रही है। ऐसी हालत मे हमारा साहित्य इस क्रातिकारी उठान के पीछे घिसटता हुआ चलेगा या उस पर हावी होकर सचेत प्रयत्न द्वारा उसे सही दिशा मे आगे बढ़ायेगा? पिछले दस वर्षों में हिन्दी साहित्य की जो धारा रही है, उसे देखते हुए इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिया जा सकता है, हमारा साहित्य पीछे नही रहेगा। कल्पना लोक के सपने देखने के दिन बीत गए हैं। अगर आगे नही तो कम से कम क्रातिकारी उठान के साथ क़दम मिला कर तो वह चलेगा ही। आज भी ऐसी बहुत-सी कहानियाँ और कवितायें लिखी जा रही हैं जिन पर इस क्रान्तिकारी परिवर्तन की छाप रहती है।

लेकिन इसी समय कुछ संशय के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य को ही नहीं, प्रगतिवाद को भी 'सामयिकता के दलदल' से निकालने की भगीरथ चेष्टा दिखाई देती है। मार्क्सवादी आलोचक श्री

शिवदानसिंह चौहान ने 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित 'साहित्य की परख' नाम के लेख में कुछ इस तरह की बातें कही हैं। उनकी समझ मे प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कुत्सित समाज-शास्त्र से प्रभावित रहा है, इसलिए वह कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन बन कर रह गया है। इसलिए उसका मूल्य भी नगण्य है। किसी सकट या सघर्ष के समय जैसे कोई पार्टी प्रचार-साहित्य लिखाती है, वैसे ही पिछले दिनो का प्रगतिशील साहित्य विशेष घटनाओं से जुड़ा हुआ है। अगर इन घटनाओं से अलग करके उसे देखा जाए तो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकेगा। 'प्रगतिवाद' की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थिति-जन्य अपीलों के समान है।' मुसीबत यह है कि यह अपील-साहित्य हिन्दी या हिन्दुस्तान तक सीमित नहीं है। दुनियाँ के जाने-माने क्रान्तिकारी कलाकार भी इसकी चपेट में आकर अमर कीर्ति से हाथ धो बैठते हैं। मिसाल के लिए दुनियाँ की दो बड़ी फ्रान्सीसी और सोवियत क्रान्तियो से वोल्तेयर और गोर्की का सम्बन्ध रहा है। ये दोनों कलाकार क्रान्ति के समर्थक होने के नाते ससार में पूजे जाते हैं। लेकिन आलोचक चौहान का कहना है—'उदाहरण के लिए रूसी और वोल्तेयर ने अथवा आधुनिक काल मे ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियो के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नो को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयर्लैंड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपवा कर बाँटीं, आज उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा है।

आलोचक को बताना चाहिये कि रूसी, वोल्तेयर और गोर्की की इन क्रान्तिकारी रचनाओं का महत्व नहीं है तो उनकी किन रचनाओ मे 'सौन्दर्य निरूपक दृष्टिकोण परिलक्षित' होता है। सोवियत रूस के कुछ मार्क्सवादी गोर्की को इसलिए भी महान् साहित्यिक मानते हैं कि उसने अपने साहित्य द्वारा सोवियत-क्रान्ति मे मदद दी थी। इस तरह के मार्क्सवादियों में मालोतोव भी हैं। उन्होंने गोर्की के बारे में कहा था—

'हमारी क्रान्ति पर अन्य सभी लेखकों से गोर्की की कलात्मक रचनाओं का प्रभाव अधिक शक्तिशाली और प्रत्यक्ष हुआ है। और यही कारण है कि हमारे देश में और सारी दुनियाँ की श्रमिक-जनता की दृष्टि में गोर्की सर्वहारा-साहित्य, समाजवादी साहित्य का सच्चा जन्मदाता है • कलाकार और साहित्यिक लोग गोर्की से सीख सकते हैं कि शब्दों में कौन-सी शक्ति आ जाती है जब वे मनुष्य के सुख के लिए संघर्ष में काम आते हैं और जन-साधारण के हृदय तक पहुँचते हैं। गोर्की श्रमिक जनता का सबसे बड़ा मित्र था। समाजवाद लाने के लिए जो संघर्ष होता था, उसे वह प्रेरणा देता था। लेनिन के बाद गोर्की की मृत्यु हमारे देश और मानवता की सबसे बड़ी क्षति है।'

इन शब्दों से स्पष्ट है कि गोर्की का महत्व मानव-संघर्ष में भाग लेने से कम नहीं हुआ बल्कि और बढ़ गया है। लेकिन चौहान इस पक्ष में नहीं है कि साहित्य को इस तरह संघर्ष से बाँध दिया जाए। 'साहित्य की परख' से पहले भी उन्होंने 'क्या साहित्य प्रौपेगन्डा है' लेख में लिखा था—'रूसी क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि साहित्य वर्ग युद्ध का एक हथियार है। यह एक गलत नारा था। किन्हीं खास परिस्थितियों में कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए, यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियों की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य-सङ्गठन करने के उद्देश्य से जनसमूह को प्रेरित करने के लिए ही केवल नारा नहीं लगाया जाता। ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितिओं के बदलने पर वह एक दम बेकार हो जाएगा और कदाचित् नयी परिस्थितियों के विपरीत पड़ कर वह उनके विकास में बाधक हो उठे।' यहाँ पर भी चौहान की वही परेशानी नजर आती है। नारा ऐसा ईजाद किया जाए जो परिस्थितियों के बदलने पर भी शाश्वत बना रहे। यह आश्चर्य की बात है कि चौहान यह सब नुक्ताचीनी मार्क्सवाद के नाम पर करते हैं।

उधर कुछ मार्क्सवादी ऐसे हैं जो सोवियत लेखकों तक से इस बात की शिकायत करते हैं कि उन्होने क्रान्तिकारी आन्दोलन बढाने के लिए यथेष्ट साहित्य क्यों नही दिया। दुनियाँ के मजदूर आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता जार्ज दिमित्रोव ने सोवियत लेखकों की एक सभा मे कहा था—'कविता, उपन्यास, कहानी आदि कला कृतियो के रूप मे तुम हमे एक तेज हथियार दो जो सङ्घर्ष मे काम आ सके। अपनी कला से क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता बनाने में मदद करो।'

सभी लोग जानते हैं कि लेनिन ने ऐसे साहित्य की माँग की थी जो मजदूर आन्दोलन को आगे बढाए। उन्होने कहा था—'साहित्य के के लिए जरूरी है कि वह सर्वहारा-लक्ष्य का एक अङ्ग बने। मजदूर वर्ग के सचेत अग्रदल ने तमाम सामाजिक ढाँचे मे जो गति पैदा कर दी है, साहित्य को उसका अभिन्न अङ्ग बनना चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि रूसो, गोर्की या क्रान्तिकारी साहित्य के बारे मे चौहान ने जो शकाए या सन्शोधन पेश किये हैं, वे भ्रामक हैं और मार्क्सवाद से उनका कोई सम्बन्ध नही है। सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण के नाम पर कोई भी साहित्यकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से बरी नही हो सकता।

चौहान के उदाहरणों मे शेली का नाम भ्रामक रूप से लिया गया है। आयर्लैंड मे जाकर शेली ने अपना साहित्य नहीं वितरित किया था बल्कि एक विशुद्ध राजनीतिक अपील बाँटी था। उसे साहित्य की मिसाल कहना गलत है। राजनीतिक विषयो पर शेली ने और बहुत सी साहित्यिक रचनाएँ को थीं जिनकी मिसाल देना अधिक उचित होगा। अठारहवी सदी के भौतिकवाद और फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति का बहुत गहरा असर शेली पर पड़ा था। उसके साहित्य मे जो नयी चेतना मिलती है, उसका यही कारण है।

साहित्य को सङ्घर्ष से दूर रखने के प्रयत्न का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि प्रगतिशील साहित्य की कोई जरूरत नही रहती और

कला के साश्वत मानदण्डो के अनुसार हर कलाकार प्रगतिशील मालूम होने लगता है। 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन चेष्टा वाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामजस्य और मुक्तिकामी, निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।' यही दलील अब तक के पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी देते आए हैं। समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए वे बराबर यह दलील देते रहे हैं कि जब सच्ची अनुभूति होगी तब हम साहित्य लिखेंगे और वह अनुभूति चाहे जिस वर्ग के पक्ष मे हो, सौन्दर्य-मूलक होने के कारण लोगो को उसका आदर करना ही होगा।

प्रगतिवादी आलोचकों ने इस बात पर बराबर जोर दिया है कि लेखको को अपना सामाजिक उत्तरदायित्व समझ कर सचेत रूप से लेखनी चलानी चाहिये। लेकिन चौहान को यह सहन नहीं है कि कलाकार पर किसी तरह का नियत्रण हो और आलोचक उसे यह बताएँ कि इस विषय पर भी लेखनी उठाने की जरूरत है। वह कहते हैं, प्रगतिवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि समीक्षक साहित्यकार को कलावस्तु या कलारूप सम्बन्धी निर्देश दे।' इसलिये आलोचक का एक ही काम रह जाता है कि वह कलाकृति का सौन्दर्य-निरूपण मात्र करता रहे। चौहान का दृष्टिकोण कला, कला के लिए के सिद्धान्तवादियों से मिलता-जुलता है। कला का सौन्दर्य ही मनुष्य को उन्नत और सुसस्कृत बनाता है, इसलिए हर कलाकृति का सुन्दर होना ही यथेष्ट है, प्रगतिवाद की चर्चा बेकार है। वह कहते हैं—'कलाकृति मनुष्य और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव मूल्यों का निर्माण करती है। अपने सस्कृति विधायक रूप मे कला या साहित्य भी स्वभावत. प्रगतिशील होता है। अत एक कलाकार या उसकी कृति को प्रगतिवादी होना जरूरी नहीं है, अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि

कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रख कर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बना दे ।'

ध्यान देने की बात है कि एक तरफ तो कलाकार स्वभावत. प्रगतिशील होता है और दूसरी तरफ उसका प्रगतिवादी होना भी जरूरी नही है । जब हम हर कलाकार को सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से प्रगतिशील मान लेगे तो जाहिर है कि प्रगतिवाद एक व्यर्थ की चीज बन जाएगा । यह सही है कि प्रगतिशील लेखको को लक्षण ग्रन्थो के उदाहरण नही लिखना है । परन्तु इसका यह मतलब नही है कि हम कलाकार की रचना मे यह न परखे कि वह प्रगति का समर्थक है या उसका विरोधी । अपने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के कारण चौहान यह नही समझते कि साहित्य और कला सर्वसाधारण की वस्तु बनेगी । जीवन सश्लिष्ट है इसलिये साहित्य सश्लिष्ट और क्लिष्ट दोनो होगा (खुद चौहान की शैली इसकी मिसाल है) । उन्होने आई० ए० रिचार्ड्स के स्वर मे मिलाकर यह विचित्र दावा किया है—'जो प्रत्यक्ष और बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती । कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है' इत्यादि, यह है प्रगतिवाद का फातिहा ।

चौहान ने समन्वय की बात भी उठाई है । यदि मार्क्सवाद अधूरा है तो उसे जरूर पूरा करना चाहिए । लेकिन मालूम ऐसा होता है कि मनोविज्ञान और समाज-सास्त्र के समन्वय का नारा इसलिए बुलन्द किया जा रहा है कि हम सामयिकता की माँग से बच सके । इस तरह का समन्वय करने की कोशिशे पहले भी की जा चुकी हैं और जैसे वे पहिले विफल हो चुकी हैं वैसे ही हिन्दी में भी, बाबू गुलाबराय के आशीर्वाद के बावजूद भी, वे विफल होगी । चौहान को समाज-शास्त्र से चिढ नहीं है । उनका विरोध कुत्सित समाज-शास्त्र से है । अगर उसका कुत्सितपन दूर कर दिया जाय तो शायद उन्हे वह ग्राह्य हो जाय । पता नहीं वे मनोविज्ञान से किसका समन्वय करेंगे, शुद्ध समाजशास्त्र का या

उसके कुत्सिन रूप का ? यदि मार्क्सवाद के कुत्सित रूप से ही आपत्ति है तो उसका शुद्ध रूप ग्रहण करने के बाद इस मनोवैज्ञानिक समन्वय की जरूरत नही रहती ।

देखना चाहिए कि कुत्सित समाजशास्त्र क्या है। सोवियत लेखको में इस विषय की काफी चर्चा हो चुकी है। मार्क्सवाद को न समझने से यह भ्रान्ति पैदा होती है, लेकिन उसका समाधान मनोवैज्ञानिक समन्वय नहीं है। ऐतिहासिक विकास क्रम को न समझने से कुत्सित समाजशास्त्री भिन्न परिस्थितियो मे एक ही वर्ग के प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी कार्यों को नहीं समझ पाते। इससे वे लेखक को उस वर्ग से बाँध देते हैं जिसमे वह पैदा हुआ है। उनकी समझ मे यह नहीं आता कि अभिजात वर्ग मे पैदा होकर पुश्किन और तोल्स्तोय जनता के लेखक कैसे बने। इन्हीं के साथी हिन्दुस्तान मे भी नहीं समझ पाते कि अमीचन्द के घराने मे पैदा होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किस तरह जनता के लेखक बने। यदि साहित्य-समालोचना मे हम छन्द और अलकारों के अलावा लेखक के भावों और विचारों पर भी ध्यान देंगे तो यह जरूरी होगा कि हम उसके युग की सीमाओं को भी याद रक्खें। ऐसा न करने पर पिछले जमाने के सभी कलाकार समान रूप से प्रतिक्रियावादी नजर आयेंगे। यदि हम उनके भावो और विचारों पर ध्यान न देकर छन्द और अलकारो की कसौटी पर ही परखेंगे तो वे सब के सब प्रगतिशील भी नजर आ सकते हैं। इसलिए साहित्य-समालोचना मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण की जरूरत है। पिछले युगो की सीमाओ को देखे बिना हम पुराने कलाकारों की सीमाओं को नहीं पहचान सकते। परिणाम यह होगा कि या तो हम उनके पीछे आँख मूँदकर चलेंगे या फिर उनकी तरफ से बिल्कुल ही आँख मूँद लेंगे। बहरहाल आँख किसी दशा में खुली न होगी इसलिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण जरूरी है। फ्रास के प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक जैकदूक्लौस ने बुद्धिजीवियो के बारे मे लिखा है—'हर चीज यही साबित

करती है कि जो साहित्य मानव इतिहास के निर्माण की व्यजना करता है या उसका प्रतिबिम्ब होता है, वही टिकाऊ होता है।' इतिहास के निर्माण का यह मतलब है कि युग एक दूसरे से जुड़े होते हैं और बदलते रहते हैं। हर युग की विचारधारा को समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण होना जरूरी है। इस तर्क को विकृत करके चौहान ने लिखा है कि सापेक्षतामूलक तर्क-प्रणाली का मतलब यह होता है कि अमुक लेखक अपने युग मे प्रगतिशील था अब नहीं रहा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं है। किसी लेखक के युग सीमाओ को समझने का यह मतलब होता है कि हम अपने युग के लिए उसका महत्व अच्छी तरह जान ले। यही एक तरीका है जिससे हम अपनी प्राचीन परपरा के प्रगतिशील तत्वों को पहचान सकते हैं। इसे अस्वीकार करने से 'कला-कला के लिए' वाला सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण ही हाथ लगेगा।

प्राचीन साहित्य का मूल्याकन करते हुए चौहान इसी सौन्दयवादी दृष्टिकोण का प्रयोग करते हैं। कालिदास का साहित्य क्यो स्थायी है, इसकी व्याख्या करने के लिए उनके युग और समाज की सापेक्ष सीमाओ का निरूपण करना जरूरी नहीं है। यह बताने के लिए हमे उन तत्वों की व्याख्या करनी होगी जिनसे 'कालिदास की रचनाएँ आज भी हमे सौन्दर्य बोध कराती हैं।' आलोचक के लिए जरूरी है कि वह 'आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास की सर्वाङ्ग पुनर्सृष्टि करे।' इस पुनर्सृष्टि से नये कालिदास जरूर पेदा हो जायेंगे लेकिन वे ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य न होगे।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने से कभी-कभी यह गलती भी हो जाती है कि कही की ईंट कहीं का रोडा लेकर आलोचक हवा में प्रगतिवाद का महल बनाने लगते हैं। हिन्दी मे प्रगतिशील साहित्य पर नजर डाले तो स्पष्ट हो जाएगा कि छायावाद के पतन काल मे एक साहित्यिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रगतिवाद का जन्म हुआ था। देश के

सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलन से उसका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और ज्यों-ज्यो यह आन्दोलन क्रान्तिकारी बनता गया है, त्यो-त्यो प्रगतिवाद का रूप भी निखरा है। चौहान ने प्रगतिवाद के साहित्यिक आन्दोलन को इस ऐतिहासिक दृष्टि से देखने की कोशिश नही की। फलत. वे प्रगतिवाद की ऐसी व्याख्याये करते हैं जिनका हिन्दी साहित्य से कोई सम्बन्ध नही होता। अपनी पुस्तक 'प्रगतिवाद' के आरम्भ मे ही वह कहते हैं—'प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है, जो पूँजीवाद के अन्तिम काल मे उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओ को ग्रहण कर एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।' यह 'पूँजीवाद का अन्तिम काल' किन देशो में आया है? इस व्याख्या का हिन्दुस्तान या हिन्दी साहित्य से क्या सम्बन्ध हो सकता है? चौहान उन लोगो मे हैं जो 'विरोध-जन्य गतिशील नैतिकवाद' से कम बात नही करते, लेकिन दुर्भाग्य से साहित्य और समाज के बारे मे कुछ बहुत ही मोटी बातें भूल जाया करते हैं।

इसलिए जब वे कहते हैं कि प्रगतिवाद को 'निसर्गत. मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए था,' तब हम समझ जाते हैं कि उनके समन्वय का मतलब क्या है। आज वे फिर साहित्य को सामाजिक सघर्ष से दूर खींचकर व्यक्तिवादी अन्तर्द्वन्द्व के भँवर में डाल देना चाहते हैं। कुत्सित समाज-शास्त्र जरूर गलत है, साहित्य के सौन्दर्य को भुला देना उसके साथ अन्याय करना है, किसी लेखक के लिए यह कहना कि वह कल के लिए प्रगतिशील था, आज उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, गलत है, लेकिन इन बातों का यह मतलब नहीं है कि साहित्य मानव-सङ्घर्ष मे मदद न करे, वह मानव विकास का सबसे प्रबल अस्त्र न बने, प्राचीन कलाकारो का मूल्या-कन करते हुए हम उनके भावो और विचारो का ऐतिहासिक महत्व न समझें। चौहान ने कुछ अर्द्धसत्यों की नींव पर एक असत्य को खड़ा कर

दिया है। शाश्वत सौन्दर्य की खोज में वह सामयिकता को हिकारत की नजर से देखते हैं। उन्हे यह याद दिलाने की जरूरत है कि सामयिक सघर्ष मे आधुनिक साहित्य जितना ही तपेगा, उसका रग-रूप उतना ही निखरेगा। इस सङ्घर्ष से दूर रह कर यदि लेखक सोने की कलम से भी काल्पनिक सपनों के गीत लिखेगा तो उसकी कलम और साहित्य का मूल्य दो कौड़ी से ज्यादा न होगा।

शाश्वत सत्य और साहित्य

जिस समाज में वर्गभेद कायम है, उसमे वर्गों से परे होकर किसी शाश्वत साहित्य की रचना करना असम्भव है। सवाल यह है कि तुम किस वर्ग के साथ हो। उस वर्ग के साथ, जो तमाम वर्ग को गुलाम बनाए हुए है या उस वर्ग के साथ जो इस व्यवस्था को बदल कर नया समाज बनाने की क्षमता रखता है और उसके लिए सङ्घर्ष कर रहा है?

कुछ लोगो का विचार है कि प्रगतिशील साहित्य बदलती हुई परिस्थितियो का चित्रण करता है, इसलिये वह स्थायी साहित्य नहीं हो सकता। अगर उसे स्थायी बनाना है तो उसमें ऐसे सत्य का चित्रण होना चाहिये जो इन बदलती हुई परिस्थितियो से बँधा हुआ न हो, यानी जो शाश्वत हो। शाश्वत सत्य का दावा करने वाले यह भी कहते हैं कि जो प्राचीन साहित्य अमर है, वह शाश्वत सत्य का चित्रण करने से ही अमर हो सका है। इसलिये बदलती हुई परिस्थितियों के चित्रण से बचना चाहिये। जो लोग इन परिस्थितियों को बदलने के लिए साहित्य लिखते हैं, वह उसे प्रचार का माध्यम बना देते हैं—साहित्य साध्य न होकर एक साधन बन जाता है। यह साहित्य का पतन है, कला का ह्रास है और इसलिये साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए उसमें शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

शाश्वत सत्य के बारे में मार्क्सवाद की मान्यता क्या है?

—क्या वह शाश्वत सत्य नाम के किसी सत्य को स्वीकार करता है?

—क्या मार्क्सवाद के अनुसार बदलने वाली परिस्थितियो को चित्रित करने वाला साहित्य अस्थायी और मरणशील होता है?

—स्थायी साहित्य रचने के लिए मार्क्सवाद के अनुसार उसमें किस तरह के तथ्यो का चित्रण होना चाहिये ?

इन प्रश्नों पर मार्क्स, ऐंगिल्स, लेनिन, स्तालिन ने काफी प्रकाश डाला है। यहाँ पर विशेष रूप से ऐंगिल्स तथा लेनिन की मान्यताओ का जिक्र करना काफी होगा।

हेगल के दर्शन के क्रान्तिकारी पहलू का उल्लेख करते हुए ऐंगिल्स ने लिखा था—

'सत्य, जिसकी जानकारी हासिल करना दर्शनशास्त्र का काम है, हेगल के हाथों मे ऐसे भरे-पूरे दुराग्रहपूर्ण वक्तव्यो का जोड़ [ऐन एग्रीगेट आफ फिनिश्ड डागमैटिक स्टेटमेंट्स] नहीं रहा जिसे एक बार आविष्कृत होने पर सिर्फ रट लेना बाकी रह जाता है। अब सत्य उस जानकारी के क्रम मे, विज्ञान के उस लम्बे विकास के क्रम में ही निहित था जो ज्ञान के निम्न स्तरों से बराबर ऊँचे स्तरो तक उठता जाता है। यह [विकास-क्रम] तथाकथित शाश्वत सत्य का आविष्कार नहीं करता और इस तरह ऐसी जगह नहीं पहुँचता जहाँ से आगे बढने की गुञ्जाइश न हो और जहाँ उसके लिए बस यह काम बाकी रह जाय कि वह हाथ जोडकर शाश्वत सत्य के दर्शन करता रहे।' (फ्रेडरिक ऐंगिल्स—लुडविगफाइबास, अँगरेजी सस्करण, पृष्ठ १४)। ✓

इस प्रकार मार्क्सवाद शाश्वत सत्य की धारणा को अस्वीकार करता है। वह सत्य को ऐतिहासिक विकास-क्रम मे देखता है। उसे ऐतिहासिक परिस्थितियों से परे नही मानता।

क्या इसका मतलब है कि हर सत्य सापेक्ष होता है, इसलिए निरपेक्ष सत्य की धारणा बिलकुल झूठी है? अगर सत्य हमेशा सापेक्ष होता है तो उसे असत्य ही क्यों न कहा जाय? मार्क्सवाद के अनुसार सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य में क्या सम्बन्ध है?

लेनिन ने अपनी पुस्तक 'मैटीरियलिज्म ऐण्ड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' मे इन प्रश्नो का जवाब दिया है। यह कहते हैं—'भौतिकवादी होने का अर्थ उस वस्तुगत सत्य को स्वीकार करना है जिसे हमारी इन्द्रियाँ प्रकट करती हैं। वस्तुगत सत्य—यानी ऐसा सत्य जो मनुष्य या मानव जाति पर निर्भर नहीं है, स्वीकार करने का मतलब किसी-न-किसी तरह से निरपेक्ष सत्य को ही स्वीकार करना है।' (पृ० १३१)

निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करने का यह मतलब नहीं है कि मार्क्सवाद उस शाश्वत सत्य की धारणा को सही मानता है जिसे पाने के बाद फिर और कुछ पाना नहीं रह जाता। लेनिन शाश्वत और निरपेक्ष सत्य मे भेद करते हुए कहते हैं—'अगर हमे भौतिकवाद को आगे बढ़ाना है तो हमे 'शाश्वत सत्य' ऐसे शब्दों के साथ खिलवाड़ बद कर देना चाहिये। सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य का सम्बन्ध क्या है, हमे इस सवाल को द्वन्द्वात्मक ढग से पेश करना और उसका जवाब देना सीखना चाहिये। (उप०)

इस सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं—'मानवीय चिन्तन अपनी प्रकृति से ही यह योग्यता रखता है कि वह निरपेक्ष सत्य है, और उसे वह देता है। यह निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों के जोड से मिलकर बनता है। विज्ञान के विकास मे हर कदम निरपेक्ष सत्य के जोड में कुछ नये कण मिला देता है, लेकिन हर वैज्ञानिक धारणा की सीमाएँ सापेक्ष होती हैं। ज्ञान की वृद्धि के साथ ये सीमाएँ कभी सकुचित, कभी विस्तृत होती हैं।'

(उप० पृ० १३३-३४)

इस प्रकार मार्क्सवाद सापेक्षवाद से भिन्न वस्तु ठहरती है। सापेक्षता को स्वीकार करते हुए भी मार्क्सवाद निरपेक्षता से इनकार नहीं करता। वह सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध कायम करता है। सापेक्ष सत्यों की कड़ी जोड़कर ही निरपेक्ष सत्य की प्रतिष्ठा होती है।

लेकिन यह निरपेक्ष सत्य अपने पूर्ण रूप मे उपलब्ध नहीं होता। इसलिये उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसके सामने हाथ जोडकर दर्शन करते रहने की नौबत नहीं आती।

केवल मार्क्सवादी पद्धति से चलकर हम निरपेक्ष सत्य के निकट पहुँचते हैं। शाश्वत सत्य का दर्शन कराने वाले सज्जन, सापेक्ष निरपेक्ष के सम्बन्ध को लाँघकर, किसी भी सत्य के दर्शन नही करा पाते। लेनिन के शब्दों में—'मार्क्सवाद की राह पर चलकर हम बराबर वस्तुगत सत्य के नजदीक पहुँचते जायँगे, लेकिन यह कभी रीता न होगा (विदआउट एवर एक्जहास्टिग इट)।'

(उप० पृ० १४२)

इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य किसी ऐसे शाश्वत सत्य का चित्रण नही कर सकता जो सामाजिक परिस्थितियों से परे हो। जिस समाज मे वर्ग-सघर्ष कायम है, उसको चित्रित करने वाला साहित्य वर्गों से परे नहीं हो सकता। वर्गहीन विशुद्ध मानवीय साहित्य की रचना तभी हो सकेगी जब समाज से वर्ग निर्मूल हो जायेंगे और उनके आधार पर बने हुए सस्कार भी मनुष्य की चेतना से निकल जायेंगे।

अक्सर ऐसा हुआ है कि लोग एक नये तथ्य का आविष्कार करके उसे शाश्वत कहने लगे हैं। फ्रासीसी राज्य क्रान्ति के रूप मे सामन्तवाद के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ था उससे ऐसे अनेक 'शाश्वत' सत्यो की सृष्टि हुई थी। उस समय के अनेक विचारक शाश्वत सत्य के साथ शाश्वत समानता और शाश्वत न्याय की भी प्रतिष्ठा करने लगे थे।

ऐंगिल्स ने इन शाश्वत आविष्कारो की छानबीन करके यह दिखा दिया कि वे ऐतिहासिक परिस्थितियो से ऊपर नही उठे हुए थे। उन्होंने लिखा—'हम आज जानते हैं कि यह विवेक (रीजन) का ससार पूँजीवादी वर्ग के 'आदर्श राज्य' के अलावा और कुछ न था। शाश्वत न्याय पूँजीवादी न्याय के रूप मे प्रतिफलित हुआ। समानता कानून के सामने

पूँजीवादी समानता मे सीमित हो गयी और पूँजीवादी सम्पत्ति को मनुष्य के सबसे आवश्यक अधिकारों में घोषित किया गया। विवेक से चलने-वाली सरकार, रूसो का समाजिक समझौता, एक पूँजीपथी जनवादी प्रजा-तन्त्र के रूप में चरितार्थ हुआ, और उसी रूप मे वह चरितार्थ हो भी सकता था। १८वीं सदी के महान् विचारक अपने युग की सीमाओ को वैसे ही नहीं लॉघ सके जैसे उनके पहले के विचारक न लाघ सके थे।'

(ऐंटी ड्यूरिंग पृ० ३० ३१)

आधुनिक समाज का विकास इस पूँजीवादी न्याय और पूँजीवादी समानता से ही सम्भव हुआ है। उसकी सापेक्षता इतिहास के लिए आवश्यक थी। लेकिन उस समय के विचारको ने इतिहास की सीमाओ को न पहचान कर अपनी धारणाओ को शाश्वत करार दे दिया था।

रोमांटिक साहित्य मे, खास तौर से, हम इस शाश्वत के लिए भाग-दौड देखते हैं। शेली शाश्वत सौंदर्य का दर्शन करने के लिए विकल रहता है। सौंदर्य की आभा दुःखपूर्ण ससार मे उसे जहाँ-तहाँ उभरती हुई दिखाई देती है और फिर हाथ से गायब हो जाती है।

हिन्दी लेखका पर शेली का प्रभाव विशेष रूप से पडा है। इसलिये भी शाश्वत सौंदर्य की धारणा से पीछा छुड़ाने मे उन्हे कठिनाई होती है। ऐंगिल्स की निम्न पक्तियाँ शेली पर बहुत चुस्त बैठती हैं—'अगर शुद्ध विवेक और न्याय से ससार अभी तक शासित नहीं हुआ तो वह इसीलिए कि आदमियों ने उन्हें ठीक-ठीक समझा न था। जिस चीज की कमी थी, वह सिर्फ एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था। अब वह प्रतिभा-शाली व्यक्ति पैदा हो गया है और उसने सत्य के दर्शन भी कर लिये हैं। वह अब पैदा हुआ और इसी खास समय मे उसने सत्य के दर्शन किये हैं, यह [उसके लिये] अनिवार्य घटना नहीं है। ऐतिहासिक विकास क्रम मे यह कोई लाजिमी कड़ी नहीं है, बल्कि एक सुन्दर आकस्मिक घटना है। यह प्रतिभाशाली व्यक्ति ५०० साल पहले भी पैदा हो सकता

था और तब वह मनुष्य जाति को ५०० साल की गलतियो के कष्ट और संघर्ष से बचा लेता *। चूँकि शाश्वत सत्य देश, काल और मनुष्य के ऐतिहासिक विकास से परे है, इसलिये यह सिर्फ आकस्मिक बात है कि कब और कहाँ उसका पता लग जाता है।'

(उप० पृ० ३३)

ऐंगिल्स ने यहाँ जिस कल्पनावादी समाजवाद पर व्यंग्य किया है, उससे मिलती-जुलती चीज उन तमाम रोमाण्टिक कवियो के अन्दर रही है जो फ्रासीसी राज्यक्राति के बाद साहित्य में शाश्वत सत्य और शाश्वत सौंदर्य की प्रतिष्ठा करके दुनियाँ को स्वर्ग बना देना चाहते थे। मार्क्स-वाद सिखाता है कि किसी भी मनुष्य के लिए समाज के ऐतिहासिक विकास की सीमाओ को लाँघ जाना असम्भव है। जिस सत्य तक मनुष्य जाति की आगामी लाखो पीढियाँ पहुँचेगी, उस तक आज ही किसी एक मनुष्य के लिए पहुँच सकना सम्भव नही है। या तो हम इससे इन्कार कर दे कि मनुष्य का इतिहास विकास का एक क्रम है या फिर शाश्वत सत्य की मरीचिका से मुँह फेरना होगा।

एक व्यक्ति ऐसा था जिसने दोनो ही बाते करने की कोशिश की थी,—मनुष्य के इतिहास को विकास का क्रम भी माना था और शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा भी करना चाहता था। उस व्यक्ति का नाम था हेगल। दोनो धारणाओ मे अन्तर्विरोध था, इसलिये उसका दार्शनिक ढाँचा बीच से टूट गया। ऐंगिल्स ने इस अन्तर्विरोध पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि विकास की भावना के साथ शाश्वत सत्य की पटरी क्यो नहीं बैठ सकती।

'एक ओर तो उसकी [हेगल के दर्शनशास्त्र की] बुनियादी मान्यता ऐतिहासिक दृष्टिकोण की थी कि मानवीय इतिहास एक विकास क्रम है जो स्वभाव से ही किसी भी तथाकथित शाश्वत सत्य के आविष्कार मे बौद्धिक आन्तिकता (इन्टैलेक्चुअल फाइनैलिटी) स्वीकार नहीं कर

सकता। लेकिन दूसरी तरफ वह इस शाश्वत सत्य का तत्व होने का दावा भी करता था।

'प्राकृतिक और ऐतिहासिक ज्ञान का ऐसा शास्त्र (सिस्टम) जो कि सर्वव्यापी हो और सर्वकाल के लिए अातिक हो, द्वद्वात्मक चिन्तन के बुनियादी नियमो के प्रतिकूल है। लेकिन यह द्वन्द्वात्मक चिन्तन इस धारणा का बहिष्कार नही करता बल्कि उसे स्वीकार करता है कि समूचे बाह्य ससार का व्यवस्थित ज्ञान पीढी-दर-पीढी बहुत बडे-बड़े कदम रखता हुआ आगे बढ सकता है।'

(उप० पृ० ४१)

जो काम हेगल नहीं कर सका, उसे कुछ हिन्दी के समन्वयवादी लेखक करना चाहते हैं। वे एक तरफ तो मार्क्सवाद को मानने का भी दम भरते है और मानवीय इतिहास को विकास-क्रम मान लेते हैं। दूसरी तरफ योगी अरविन्द की मदद से अन्तर्मन की सात परतो मे पैठकर शाश्वत सत्य की कौडी ले आते हैं। इसमें उन्हे कोई असगति, कोई अन्तर्विरोध, कोई अवैज्ञानिकना नहीं दिखाई देती।

ऐंगिल्स ने हेगल के दर्शनशास्त्र को एक 'कॉलोसल मिसकैरिज' कहा था। समन्वयवादी लेखक 'कॉलोसल' भले न हो, लेकिन उनका यह चिन्तन 'मिसकैरिज' अवश्य ही!

कुछ लोग समझते हैं कि मानवीय चिन्तन ऐसे नियमो से परिचालित है जिन पर देशकाल का बन्धेज नहीं है। वे मानवीय चिन्तन की सार्वभौम स्वतन्त्रता का दावा पेश करते हैं। ऐंगिल्स पूछते हैं कि 'मानवीय चिन्तन है क्या?—क्या वह किसी व्यक्ति विशेष का चिन्तन है?—नहीं, वरन् वह भूत, वर्तमान और भविष्य के करोडो आदमियो के व्यक्तिगत चिन्तन के रूप में ही सामने आ सकता है।'

(उप० पृ० १२६)

इस रूप में मानवीय चिंतन की सार्वभौम स्वतन्त्रता स्वीकार की जा सकती है। लेकिन ऐसी स्वतन्त्रता स्वीकार करने से कोई हानि-लाभ नही है। व्यक्तिगत चिन्तन और चिन्तन की सार्वभौम स्वतन्त्रता के बीच मे एक अन्तर्विरोध है जो मनुष्य की अनन्त पीढियो के गुजरने से ही हल हो सकता है।

'इस अर्थ में मानवीय चिन्तन की जितनी सार्वभौम स्वतन्त्रता है, उतनी परतन्त्रता भी है और ज्ञान के लिए उसकी क्षमता उतनी ही असीम है, जितनी सीमित है। ऐतिहासिक उद्देश्य को देखते हुए, उसकी सम्भावनाओ, प्रवृत्ति और कार्य देखते हुए, मानवीय चिन्तन असीम है और उसकी सार्वभौम स्वतन्त्रता है। साथ ही व्यक्तिगत व्यजना मे और एक निश्चित समय मे चरितार्थ होने से मानवीय चिन्तन सीमित है और उसकी सार्वभौम स्वतन्त्रता नहीं है।'

(उप० पृ० १३३)

यहाँ पर मानवीय चिन्तन की सीमाएँ दिखाते हुए उसके सीमाहीन विकास की ओर भी सकेत किया गया है। दूसरे शब्दो मे, एंगिल्स ने सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को यहाँ फिर प्रकट किया है। अगर कोई कहे कि मनुष्य जाति शाश्वत सत्यो तक पहुँच जाय, ऐसे परिणामों तक पहुँच जाय जो त्रिकाल सत्य हो तो दुनियाँ का क्या होगा? एंगिल्स का जवाब है कि तब मनुष्य जाति 'ऐसी जगह पहुँच जायगी जहाँ बौद्धिक ससार की असीमता व्यक्त और अव्यक्त दोनो रूपो मे खत्म हो जायगी, इसका मतलब यह होगा कि अनगिनित को गिन लेने का प्रसिद्ध चमत्कार तब पूरा हो जायगा।'

(उप० पृ० १३०-३१)

क्या इसका यह मतलब है कि दुनियाँ मे कोई भी वस्तु त्रिकाल सत्य नहीं होती? एंगिल्स कहते हैं कि होती है, जैसे कि पेरिस फ्रास में है, और नैपोलियन ५ मई १८२१ को मरा। लेकिन यह चीज सामाजिक इतिहास

पर नही लागू होती—'यहाँ का ज्ञान अनिवार्य रूप से सापेक्ष रहता है क्योंकि यह ज्ञान समाज और राज्य-सत्ता के कुछ रूपो के सम्बन्ध और परिणाम पहचान कर चलता है। राज्य-सत्ता और समाज के रूप किसी निश्चित युग मे होते हैं, किन्हो खास लोगो मे होते हैं तथा अपनी प्रकृति से ही अस्थायी होते हैं। इसीलिये जो कोई इस क्षेत्र मे आन्तिक और पूर्ण सत्या को खोजने की कोशिश करेगा, ऐसा सत्य लाने की कोशिश करेगा जो नितात शुद्ध और पूर्णत अपरिवर्तनशील हो, उसके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा। बेकार की और छिछली लतरानियाँ जरूर उसके पल्ले पड़ सकती हैं—मसलन आम तौर से कहा जा सकता है कि आदमी बिना श्रम के नहीं जी सकता, अब तक मनुष्य जाति अधिकतर शासक और शासितो मे बँटी रही है, नैपोलियन ५ मई १८२१ को मरा था इत्यादि।'
(उप० पृ० १३४)

इससे जाहिर है कि जो लोग सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हैं, उन्हे इस शाश्वत सत्य की मरीचिका से खास तौर से होशियार रहना चाहिये। जहाँ शाश्वत सत्य का सबसे कम गुञ्जायश है, वहीं उसका दावा भी सबसे ज्यादा किया जाता है। ऐसा ही द्रष्टा ड्यूरिंग था जिस पर ऐंगिल्स ने अपना अशाश्वत ग्रन्थ—किन्तु महान् ग्रन्थ सामाजिक विकास की बहुत बडी कड़ी, निरपेक्ष ज्ञान की वृद्धि में एक बहुत बड़ा कण--ऐंटी ड्यूरिंग लिखा था।

सामाजिक क्षेत्र में शाश्वत नैतिकता की भी दुहाई दी जाती है। पाप-पुण्य को धारणाओं को त्रिकाल सत्य मान लिया जाता है। पाप क्या है, पुण्य क्या है, इसके पीछे बहुतों के सर फूट चुके हैं। अगर सब क अतःकरण मे एक ही त्रिकाल सत्य प्रतिष्ठित होता तो सर फुटौवल की नोबत न आता!

ऐंगिल्स ने नैतिक मूल्यो की छानबीन करके दिखाया है कि ये मूल्य वर्गों से परे नहीं हैं। मनुष्य के नैतिक आधार उन आर्थिक सम्बन्धो से

बाहर नहीं हैं जिनके भीतर रह कर मनुष्य उत्पादन और वितरण की क्रिया पूरी करते हैं। जब आर्थिक विकास की मजिलें एक दूसरे से मिलती-जुलती होती हैं तो नैतिक सिद्धान्त भी एक दूसरे से मिलते-जुलते होते हैं—'जब से व्यक्तिगत सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का विकास शुरू हुआ, तब से उन तमाम समाजो में, जिनमें निजी स्वामित्व कायम था, इस नैतिक नियम का भी समान रूप से मौजूद रहना आवश्यक था कि चोरी करना पाप है। क्या यह नियम, इस तरह से, शाश्वत नैतिक नियम बन जाता है? नहीं, वह शाश्वत नियम किसी तरह भी नही बनता। ऐसे समाज मे जहाँ चोरी करने के लिए प्रेरणा का आधार ही खत्म कर दिया गया हो, जिसमें अगर चोरी होगी भी तो चोरी करने वाले पागल ही होंगे, ऐसे समाज में उस नीतिशास्त्र के उपदेशक पर लोग हँसेंगे जो बहुत गम्भीरता से इस शाश्वत सत्य का ऐलान करेगा कि चोरी करना पाप है।' (उप० पृ० १४०)

इसलिये मार्क्सवाद नैतिकता मे भी शाश्वत मान-दडों को अस्वीकार करता है। अन्य विचारधाराओ के समान नैतिकता की धारणाएँ भी विकासमान मानव-समाज के इतिहास से परे नहीं हैं। ऐंगिल्स ने घोषित किया था कि तमाम नैतिक सिद्धान्त बुनियादी तौर से उस आर्थिक मजिल के परिणाम होते हैं जिस तक एक विशेष युग मे समाज पहुँचता है। समाज का विकास वर्ग-सघर्ष के मार्ग से हुआ है, इसलिये नैतिकता भी हमेशा वर्ग-नैतिकता रही है। नैतिकता में उन्नति हुई है, लेकिन उसका वर्ग-रूप खतम नहीं हुआ है।

क्या वर्गों से परे मानवीय नैतिकता का निर्माण असम्भव है? ऐंगिल्स का जवाब है कि 'यह समाज की उस मजिल में ही सम्भव है जहाँ वर्ग-विरोध खत्म ही नहीं कर दिये गये बल्कि अमली जिन्दगी में भुला भी दिये गये हैं।' (उप० पृ० १४१) जब तक ऐसा नहीं होता,

तब तक शाश्वत सत्य तो दूर, हम वर्गहीन मानवीय सत्य की बात भी नहीं कर सकते।

साहित्य के लिए ऐंगिल्स की इन मान्यताओं का बहुत बड़ा मूल्य है, (भले ही वह मूल्य शाश्वत न हो)। साहित्यकार अपने युग की ऐतिहासिक सीमाओं को लॉघ नहीं सकता, वह चाहे भी तो सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण से बच नहीं सकता। जो लोग साहित्य और सस्कृति को राजनीति से स्वतन्त्र मानते हैं, उन पर सामाजिक प्रतिबन्ध अस्वीकार करते हैं, वे दरअसल शाश्वत सत्य की ही प्रतिष्ठा करने की कोशिश करते हैं। इस तरह वे अपने को और दूसरो को भ्रम मे डालते हैं। इस बात का पता लगाने में कोई भी कठिनाई न होनी चाहिए कि सस्कृति को राजनीति से स्वाधीन करार देने वाले ये लोग जरा भी स्वाधीन नहीं हैं, बल्कि इससे उलटा एक विशेष प्रकार की राजनीति के जबर्दस्त गुलाम हैं। यह राजनीति सामन्ती और पूँजीवादी वर्गों की है। उस पर पर्दा डालने के लिए संस्कृति के स्वाधीन होने की बात कही जाती है।

श्री० सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक भौतिकवाद को अधूरा मानते हैं उसको भरापूरा बनाने के लिए वे उसे अध्यात्मवाद से मिलाते हैं। वह अपनी सस्कृति को धर्म और राजनीति के बीच की चीज कहते हैं। एकागीपन से* बचने के लिए वह 'मध्यवर्त्ती पथ' अपनाते हैं।

---

* 'आधुनिक भौतिकवाद हमें, मध्ययुगीय भारतीय दार्शनिको के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकागी तथा अधूरा लगता है। मानव जीवन के रूपों को अखडनीय ही मानना पड़ता है, उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते । सास्कृतिक सचरण न राजनीति की तरह सम्बल सचरण है और न धर्म अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व सचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है। (श्री० सुमित्रानन्दन पन्त, सास्कृतिक आन्दो-लन—क्यों, कैसा ? सङ्गम,' १६ सितम्बर, १६४८)।

संस्कृति क्या है, इस पर पन्तजी के अनुसार एक महान् ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है, हालाँकि फिर भी उसके साथ यथेष्ट न्याय न होगा। उस ग्रन्थ के अभाव में पन्तजी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की विशेषता इन वाक्यों से प्रकट हुई समझनी चाहिये—'और अभी मैं अन्तर्चेतना, अतर्विश्वास और सहजबोध के बारे में जो कह चुका हूँ, उनके अस्तित्व के बारे में भी कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। संस्कृति के आधारों तथा मान्यताओं की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही लगती है।' (सङ्गम १९ सितम्बर, १९४८)।

इससे नतीजा यह निकलता है कि पन्तजी की संस्कृति राजनीति से ही स्वतन्त्र नहीं, वह बुद्धि से भी स्वतंत्र है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में मन, चेतना, अनुभूति आदि शब्दों का जैसा प्रयोग किया गया है, उससे यह विश्वास पक्का हो जाता है कि उनके लिए शब्द अर्थ से मुक्त हो गये हैं।

पन्तजी संसार के राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलनों से बेखबर नहीं हैं। खबर तो है, लेकिन उनका 'सहज बोध' जनवादी शक्तियों के सङ्घर्ष को और साम्राज्यवादी युद्ध को एक ही तराजू में तौलता है। उनके लिए यह सब पार्थिव सत्ता के स्वाभाविक विस्फोट हैं, इसलिये अपने स्थान पर इनकी उपयोगिता भी सिद्ध है।

पन्तजी का सर्वनाम 'इनकी' दोनों के ही लिए आता है, जनवादी शक्तियों के लिए भी और साम्राज्यवादी दल के लिए भी। पन्तजी ने यह साफ-साफ नहीं बताया कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी जगह पर किस उपयोगिता को सिद्ध कर रही हैं। उन्होंने चीन, हिन्दुस्तान जैसे देशों को पूँजीवादी राष्ट्रों और साम्यवादी रूस, 'दोनों सशक्त सङ्गठनों के भले-बुरे परिणामों से प्रभावित तथा संत्रस्त' बतलाया है। इस तरह साम्राज्यवाद और समाजवादी देशों के भले-बुरे प्रभाव का उल्लेख करके वह अपने मध्यवर्त्ती पन्थ को राजनीति पर भी लागू करते हैं।

पन्तजी के शब्दो में उनकी बात इस प्रकार है—'इस युग मे हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं—अधिक प्रकाश डाला है। और भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक रसायनिक शक्तियो पर अपना आधिपत्य जमा लिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन की भौतिक एव आधुनिक अर्थ में सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गयी हैं। और जीवन की इन सबल,बाह्य गतियो का नये ढग से सङ्गठन करने के लिए आज ससार मे नवीन रूप से राजनीतिक आर्थिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव, लोक शक्तियो का सङ्घर्ष तथा महायुद्धो का हाहाकार बढ रहा है। यह राजनीतिक आर्थिक आन्दोलन हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु-सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिये इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलतः आज हमारा पदार्थ जीवन भौगोलिक दृष्टि से मुख्यतः तीन विभागो मे विभक्त हो गया है। एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र हैं, दूसरी ओर साम्यवादी रूस और तीसरी ओर चीन, हिन्दुस्तान जैसे वे छोटे-बडे देश जिनका निर्माण काल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नहीं हुआ है और जो उपर्युक्त दोनो सशक्त सङ्गठनो के भले-बुरे परिणामो से प्रभावित तथा सन्त्रस्त हैं।' (उप०)

ये वाक्य पन्तजी का राजनीतिक दृष्टिकोण जाहिर करने के लिए काफी हे। वे दुनियाँ को पूँजीवाद, समाजवाद और मध्य पथ के तीन भागो में बँटा हुआ देखते हैं। यह साहस पन्तजी मे ही था कि वे इस बँटवारे को भौगोलिक कहें। पूँजीवाद राष्ट्रो और साम्यवाद रूस के बीच की खाई ऐतिहासिक न होकर भौगोलिक हो गयी है। दुनियाँ दो कैम्पो में ही नहीं बँटी हुई है, साम्राज्य-विरोधी और साम्राज्यवादी दलों के अलावा एक तीसरा दल उन देशों का भी है जिनका निर्माण काल अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इसी तीसरे दल में हिन्दुस्तान है। [निर्माण काल के प्रारभ मे ही उत्पादन न बढ़ा कर कुछ सिर फिरे लोग वर्ग

सङ्घर्ष की बात करने लगते हैं। उगते हुए राष्ट्र के साथ कैसा अन्याय है?] ससार के राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन ऐतिहासिक विकास-क्रम के अङ्ग नहीं हैं, वे पार्थिव सत्ता के स्वभाविक विस्फोट हैं। अगर आप अपार्थिव सत्ता की सतह पर पहुँच जायँ तो सस्कृति के हवाई महल में इन विस्फोटों से बच सकते हैं। विज्ञान ने चेतना के निम्नतम धरातल यानी भूत या पदार्थ पर ही अधिक प्रकाश डाला है। इसलिये पन्तजी के अनुसार चेतना से प्रकृति बनती है। प्रकृति उसका सबसे निचला रूप है, शुद्ध रूप तो अन्तर्चेतना में है जो बुद्धि से परे है।

पतजी के दर्शन में मार्क्सवाद से समन्वय नहीं किया गया, बल्कि समन्वय के नाम पर उसका जगह अधविश्वासो को प्रतिष्ठित किया गया है। पतजी की अन्तर्चेतनावादी सस्कृति पहचानती है कि ससार में लोकतन्त्रवादी शक्तियो का सङ्घर्ष भी है और महायुद्धों का हाहाकर भी है। लेकिन इन दोनो के बीच मे उनका कवि-कर्तव्य कहाँ है, इस पर वह प्रकाश नहीं डालते। यह बात नहीं है कि वह राजनीतिक सवालो को उठाते नहीं। राजनीतिक ही नहीं, वे आर्थिक प्रश्न भी उठाते हैं, लेकिन उन प्रश्नों का जो समाधान वे करते हैं उससे किस वर्ग का भला होता है, यह देखना कठिन नहीं है—

'भर देगा भूखी जनता को अन्तर्जीवन प्लावन
मनुष्यत्व को करो समर्पित खडित तन कवलित मन।' और भी—
'आवे प्रभु के द्वार
जो जीवन में परितापित हैं,
हतभागे हताश शापित हैं।' इत्यादि

'स्वर्णधूलि' की कई रचनाओं मे उन्होने लोकशक्तियो के सङ्घर्ष की बात उठाई है। सङ्घर्ष करने वाली जनता को उन्होने यही उपदेश दिया है कि वह सङ्घर्ष का रास्ता छोडकर वर्ग-सहयोग के रास्ते पर चले। परम पिता परमात्मा की सन्तान पूँजीपति और मजदूर दोनो ही हैं। इसलिए

दोनों को चाहिए—खास तौर से मजदूरो को चाहिए—कि लड़ाई झगड़ा छोड़कर प्रेमपूर्वक रहें।

मार्क्सवाद को तिलाजलि देकर पतजी के पास आज यही राजनीति रह गई है कि वह जनता को पूँजीवाद की गुलामी करना सिखायें। सस्कृति का कवच पहनकर वे पूँजीवाद की परिस्थितियो से ऊपर उठना चाहते हैं। भूत और अध्यात्म के बीच मे वह मध्यवर्त्ती मार्ग से यात्रा करना चाहते हैं। उनकी राजनीति पुकार-पुकार कर कह रही है कि यह मध्यवर्त्ती मार्ग पूँजीवादी मार्ग के अलावा और कुछ नहीं है।

इसलिए सस्कृति को राजनीति से स्वतत्र रखने का दावा केवल एक भुलावा है।

सस्कृति और साहित्य के नाम पर जो अधिकाश कलाकार अपने मध्यवर्त्ती होने या राजनीति से स्वतंत्र होने का दावा करते हैं, वे ऐसी राजनीति को छिपाते हैं जो देखने में बहुत सुघर नहीं मालूम होती।

१६०५ मे लेनिन ने सर्वहारा उद्देश्य की पूर्ति के लिए पार्टीजन साहित्य की माँग की थी। मार्क्स और ऐंगिल्स को उन्होने पार्टीजन दर्शनकार बताया था जो सर्वहारा उद्देश्य के लिए बिना कभी विचलित हुए लड़ते रहे थे। जिस समाज में वर्ग भेद कायम हो, उसमे वर्गों से परे होकर साहित्य रचना नामुमकिन है। सवाल यह है कि तुम किस वर्ग के साथ हो, उस वर्ग के साथ जो तमाम समाज को गुलाम बनाये हुए है या उस वर्ग के साथ जो इस व्यवस्था को बदलकर नया समाज बनाने की क्षमता रखता है और उसके लिए लड़ भी रहा है।

इन दोनों के बीच मे मध्यवर्त्ती मार्ग चुनना नामुमकिन है। आज एक बहुत बड़े पैमाने पर साम्राज्यवादी ताकतो और साम्राज्य विरोधी जनता के बीच सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है। यह सङ्घर्ष मनुष्य जाति के इतिहास में एक बिराट् और व्यापक परिवर्तन करने जा रहा है। उसे

वस्तु-सत्ता का स्वाभाविक विस्फोट कहकर टाल देना अपने और दूसरों को छलने के अलावा और कुछ नहीं है।

यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न सामने आता है—यदि साहित्य और संस्कृति वर्गों से परे नहीं है तो वर्गहीन समाज में उनका मूल्य क्या होगा? अगर साहित्य किसी विशेष समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, तो उस व्यवस्था के बदलने पर उसका क्या मूल्य रहेगा?

इसका उत्तर यह है कि समाज का इतिहास उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। अगर विकास-क्रम के पिछले तत्त्वों को हम छोड़ देते हैं तो अगली शृंखला जोड़ी नहीं जा सकती। इसलिए लेनिन ने पुरानी संस्कृति के मूल्यांकन पर इतना जोर दिया था। इस मूल्यांकन की सबसे अच्छी मिसाल उन्होंने मार्क्सवाद को ही बताया था—'मार्क्सवाद इस बात की मिसाल है कि मानव ज्ञान के जोड़ से किस तरह कम्युनिज्म की उत्पत्ति हुई। तुमने पढ़ा है और सुना है कि कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का—कम्युनिज्म के विज्ञान का निर्माण मुख्यतः मार्क्स ने किया था। यह मार्क्सवाद के सिद्धान्त १९वीं सदी के किसी एक सोशलिस्ट की सृष्टि नहीं रह गये, चाहे वह महान् प्रतिभाशाली ही रहा हो। ये सिद्धान्त तमाम दुनियाँ में उन लाखों और करोड़ों सर्वहारा के सिद्धान्त बन गये हैं जो इन्हें पूँजीवाद के खिलाफ अपने सङ्घर्ष मे लागू कर रहे हैं। और अगर तुम पूछो कि मार्क्स के इन सिद्धान्तो ने सबसे क्रान्तिकारी वर्ग के लाखों और करोड़ों आदमियों के दिल में क्यों जगह बना ली है तो तुम्हें इसका एक ही जवाब मिलेगा। यह इसलिये मुमकिन हुआ कि पूँजीवाद के कायम रहते हुए जो कुछ मानव ज्ञान संचित किया गया था, उसकी मजबूत बुनियाद पर मार्क्स ने अपने पाँव रोपे थे। मानव समाज के विकास के नियमों का अध्ययन करके मार्क्स ने अनुभव किया था कि पूँजीवाद का विकास अनिवार्य ढङ्ग से कम्युनिज्म की तरफ हो रहा है। और मुख्य बात यह थी कि उन्होंने पूँजीवादी सामाज का

अत्यत गम्भीर, अत्यत विस्तृत और सही-सही अध्ययन करके ही इस बात को सिद्ध किया था। और ऐसा वे इसीलिए कर सके थे कि उनके पहले के विज्ञान ने जो कुछ सिखाया था, उसे उन्होने पूरी तरह आत्म-सात् कर लिया था। मानव समाज ने जो कुछ भी बनाया था, बिना कोई भी चीज छोड़े हुए उन्होंने आलोचनात्मक ढङ्ग से उसे एक नया रूप दिया था। मानव-चिन्तन ने जो कुछ बनाया था, उसे उन्होंने नया रूप दिया, उसकी आलोचना की, मजदूर आन्दोलन की कसौटी पर उसे परखा, और उसमे ऐसे नतीजे निकाले जिन्हें पूँजीवादी सीमाओ या पूँजीवादी दुराग्रहों से बँधे हुए लोग न निकाल पाये थे।' (नौजवान सभाओ का कर्त्तव्य, अक्तूबर, १९२०, मार्क्स ऐंगिल्स मार्क्सिज्म, अगरेजी सस्करण, पृ० ४५३-५७।)

मार्क्स ने जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन का इसी तरह मूल्याकन किया। हेगल के आदर्शवाद से उन्होंने द्वद्ववाद को बाहर निकाला। उन्होने उसे इतिहास और विज्ञान की कसौटी पर परखा और उसे मार्क्सवाद का मेरुदड बना दिया। इसी तरह उन्होंने फ्रास के कल्पनावादी सोशलिस्टो का मूल्याकन किया, इगलैंड के अर्थशास्त्र का मूल्याकन किया। पुराने भौतिकवाद, अर्थशास्त्र और समाजवाद के आधार पर ही मार्क्सवाद नहीं रचा गया, बल्कि मार्क्स ने इस पुरानी विरासत मे एक गुणात्मक परिवर्तन भी किया।

मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन है, वह समाज को बदलने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। मार्क्सवाद का यह रूप उन तमाम तत्वों मे मौजूद न था जिनका मूल्याकन मार्क्स ने किया था। १९वीं सदी के पूँजीवादी समाज मे मार्क्स ने ऐतिहासिक परिस्थितियों से ऊपर उठकर शाश्वत सत्य का निर्माण नहीं किया। उन्होंने सामाजिक विकास की मजिलों का अध्ययन किया, विकास के नियमों का पता लगाया और इतिहास को बदलने का रास्ता दिखाया।

यह सब करने के लिए पुरानी सस्कृति का मूल्याकन जरूरी था, उससे उन तमाम तत्त्वों को लेना जरूरी था जो नयी वैज्ञानिक विचारधारा के लिए आवश्यक थे। यह मूल्याकन तभी सम्भव हुआ जब पुरानी सस्कृति का वर्ग रूप, उसकी ऐतिहासिक सीमाएँ भी पहचानी गयीं। जिस तरह दर्शन और अर्थशास्त्र के तथ्य पुरानी समाज-व्यवस्था में निर्मित होने पर भी समाज के काम आते हैं, उसी तरह साहित्य मे पुरानी समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करने वाले तत्व भी नयी साहित्यिक चेतना को विकसित करने में सहायक होते हैं। लेकिन पुरानी समाज-व्यवस्था का चित्रण करते हुए कुछ लोग प्रगतिशील तत्वो पर जोर देते हैं, कुछ लोग प्रतिक्रिया की हिमायत करते हैं। पूँजीवादी समाज में रचे हुए साहित्य के स्थायी अश वे होंगे जो उस समय की सामाजिक प्रगति को प्रतिबिम्बित करते रहे हैं और उसे प्रेरणा देते रहे हैं।

प्रगति और प्रतिक्रिया के पहलुओं को समझने के लिए ही मूल्याकन की जरूरत होती है, वर्ना तमाम पुराने साहित्य को, संस्कृति और विज्ञान को, आँख मूँद कर अपना लिया जाय।

इस मूल्याकन में रूप और कला की बात भी आती है जिस पर यहाँ कुछ नहीं कहा गया। इस और पुराने साहित्य के मूल्याकन पर आगे खने की कोशिश करूँगा। यहाँ पर सवाल शाश्वत सत्य का है। उसके बारे में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि साहित्य में शाश्वत सत्य जैसी (नैपोलियन ५ मई को मरा था के अपवाद छोड़कर) किसी चीज की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मनुष्य सामाजिक परिस्थितियो और ऐतिहासिक विकास की सीमाओं को लाँघ नहीं सकता। वह स्थायी साहित्य तभी दे सकता है जब वह अस्थायी लगने वाली परिस्थितियों का चित्रण करे। वर्ग-भेद के आधार पर चलने वाले समाज में उसे प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी वर्गों को पहचानना होगा। पार्टीजन साहित्यकार

बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए भी मूल्यवान हो।

मार्क्स के शब्दों में—'दर्शनकारों ने अलग-अलग तरह से दुनियाँ की व्याख्या की है, असली बात है उसको बदलना।' साहित्य दुनियाँ को बदलने के लिए बहुत बड़ा साधन है। जिस हद तक वह साधन बनता है उस हद तक ही साध्य रूप में भी उसकी सफलता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन किसकी सेवा करेगा हिन्दी साहित्य की, या हिन्दू संप्रदायवाद की ?

इस बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हिन्दी के विख्यात विद्वान महापण्डित राहुल साकृत्यायन होने जा रहे हैं। इससे हिन्दी लेखको और पाठकों में आशा की एक नयी लहर दौड़ गयी है कि अब शायद साहित्य सम्मेलन का उद्धार हो जायगा।

यह न भूलना चाहिये कि राष्ट्रभाषा परिषद के अध्यक्ष पद के लिए श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी भी चुने गये हैं। बम्बई की स्वागतकारिणी समिति में बड़े-बड़े महाजन जो हिन्दी साहित्य के लिए इतरजन हैं—पैर जमा रहे हैं। इससे सिद्ध है कि बिना तीव्र सङ्घर्ष के हिन्दी साहित्य सम्मेलन उस पूँजीवादी दलदल से नहीं निकल सकता।

किसी समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन से हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में पथप्रदर्शक का काम किया था। हिन्दी के उच्चकोटि के विद्वान् उसके सभापति पद को सुशोभित करते थे। सम्मेलन का अधिवेशन एक साहित्यिक पर्व होता था जिसमे भाग लेना लोग अपने गौरव की बात समझते थे। देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हिंदी को उसका उचित स्थान देने के लिए तब भी प्रचार किया जाता था परतु प्रत्येक सभापति साहित्य की गतिविधि पर भी प्रकाश डालता था और भावी कार्यक्रम की ओर इगित करता था।

धीरे-धीरे सम्मेलन का यह रूप बदलता गया। कोशिश यह होने

लगी कि किसी तरह हिन्दी का प्रचार हो, साहित्य अपनी रक्षा आप कर लेगा। साहित्य के लिए अलग से एक परिषद् का अधिवेशन होने लगा। इस परिषद् मे साहित्य की विवेचना कितनी होती है, यह किसी से छिपा नही है। वैसे तो सम्मेलन ने दर्शनशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक किसी भी विषय को नहीं छोड़ा, लेकिन सम्मेलन का वास्तविक रूप हिन्दी प्रचारक का ही रह गया है।

अपनी भाषा का प्रचार करना हम सब के लिए गर्व की बात है। दूसरी भाषा के लोग हमारे साहित्य को पढे और उसे सम्मान की दृष्टि से देखें यह बात भी मन को प्रसन्न करने वाली है। लेकिन आप इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि दूसरी भाषा के बोलने वालो के हृदय मे हमारे साहित्य के प्रति सम्मेलन के प्रचार द्वारा कितना सम्मान बढा है।

हिन्दी साहित्य का प्रसार और विकास तथा हिन्दी भाषा का प्रचार दो अलग बाते नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से जुडी हुई हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन साहित्य रचना की ओर से जितना ही उदासीन होता गया है, उसका हिन्दी प्रचार भी उतना ही उथला और प्रभावहीन होता गया है।

यह स्वाभाविक था कि हिन्दी प्रचारक हिन्दीपन को भूल कर गाँठ की पूँजी के अभाव में सस्कृत का डका बजाये और कहें कि हमारी भाषा सस्कृत के सबसे ज्यादा निकट है, इसीलिए वही ससार की श्रेष्ठ भाषा है। यदि ससार उसे अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मानता तो यह उसकी मूर्खता है, कम से कम हिन्दुस्तान के लोगो को तो मान ही लेना चाहिये।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मच पर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, प० अमरनाथ झा, गोस्वामी गणेशदत्त आदि-आदि का आना हिन्दी की प्रगति का सूचक नहीं है।

मुशी जी अपनी साम्प्रदायिकता के कारण काग्रेस से अलग हो गये थे। हिन्दू राष्ट्र के अवखुले समर्थक के रूप मे अब वह पुन. कॉग्रेस मे प्रतिष्ठित हो गये हैं।

किसी समय उर्दू कवि अकबर इलाहाबादी के परम मित्र और समर्थक स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर विराजे थे। उसी पद पर गोस्वामी गणेशदत्त जैसे सकीर्ण मनोवृत्ति के लोग भी आये। अकबर का जादू उनके सिर पर चढ कर बोला, लेकिन उसके लिए उन्हे क्षमा याचना करनी पडी—'माफ करना जी, मुँह से उर्दू का शेर निकल गया।'

साहित्य सम्मेलन के पीछे जो गुट्ट काम करता आया है, वह धीरे-धीरे सम्मेलन के प्राण टण्डन जी को और उनके शरीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन को हिन्दू साम्प्रदायिकना की ओर घसीट ले गया है।

टण्डन जी ने अनेक भाषणो मे अपनी सफाई देते हुए बता दिया है कि अब वह गाँधी जी के साथ नहो हैं। वे यह नहीं बताते कि अब वह हैं किसके साथ। फिर भी बिना बताये हुए ही लोग उनके नये मित्रों को परख सकते हैं।

यह कहने की बात नही, सभी लोग जानते हैं कि हिन्दी भाषी ससार मे सम्मेलन की तरफ से बहुत बडा असन्तोष है। पुरानी पीढी के बड़े-बड़े लेखक उससे सहयोग नही करते। मैने व्यक्तिगत रूप से कई लोगो से इस विषय में बातचीत की और पूछा कि आप हिन्दी के पुराने साहित्यकार होकर सम्मेलन को लेखकों को एक लाकप्रिय सस्था क्यो नहीं बनाते? उन्होने निराशा होकर उत्तर दिया कि दलदल मे कौन फँसे!

हिन्दी लेखको की नयी पीढी इस ओर से और भी उदासीन है। सम्मेलन से किसी भी तरह की प्रेरणा उसे नहां मिलती। बगाल में इतना बड़ा अकाल पड़ा, हिन्दी साहित्य में उस पर इतनी रचनाये

प्रकाशित हुई लेकिन सम्मेलन इस ओर से मौन रहा। नेता जेल से छूटे, देश में बड़े-बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुए लेकिन सम्मेलन की गतिविधि मे कोई ऐसा अन्तर नहीं आया जिससे हिन्दी लेखक राष्ट्र-निर्माण के कार्य की ओर बढते।

यह बात नहो है कि सम्मेलन शुद्ध साहित्यिक सस्था हो जिसका राजनीतिक और सामाजिक हालत से कोई सम्बन्ध न हो।

दिन पर दिन सम्मेलन एक स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा की ओर खिचता गया। यह विचारधारा हिन्दू राष्ट्रवाद की है। सम्मेलन मच से अनेक बार हिन्दी और हिन्दू का सम्बन्ध जोडा गया है। हिन्दी आम जनता की भाषा है—यह सिर्फ कहने की बात रह गयी है। हिन्दी के हिन्दीपन को मिटा कर उसे सस्कृत की ओर ले जाने के पक्षपाती हिंदी को कदापि जन-साधारण की भाषा नहीं मानते। उनके लिए मुसलमान का हिन्दी भाषी या हिन्दी लेखक होना एक पहेली है। मुँह से वे भले ही कहें कि मुसलमानो की भाषा भी हिन्दी है, लेकिन सिद्धान्त उनका यही है कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा है और हिन्दुओ में भी पण्डित अमरनाथ झा और श्री कन्हैयालाल मुशी जैसे लोगों की भाषा है।

सम्मेलन के मत्री श्री मौलिचन्द्र शर्मा टेहरी राज्य के भूतपूर्व दीवान हैं। आपके ही शासन काल में श्री देव 'सुमन' को वीरगति प्राप्त हुई थी। केवल अपनी साम्प्रदायिकता के बल पर गोस्वामी गणेशदत्त की उँगली पकड़ कर आप मत्रि पद पर आसीन हो गये हैं। आप खुल्लम-खुल्ला राष्ट्र विरोधी मोर्चों के नेता हैं। आपके मन्त्रित्व काल में आपका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से इतना घनिष्ट नहीं हुआ जितना अपने भूतपूर्व अन्नदाता राजाओ से।

इस तरह के लोगों की प्रतिक्रियावादी नीति का ही परिणाम है कि सम्मेलन हिन्दी-साहित्य की मूल गतिविधि से दूर जा पडा है।

इन्हीं लोगों के प्रयत्नों का फल है कि हिन्दी का जितना ही अधिक प्रचार किया जाता है, दूसरी भाषाओ के आगे उसे उतना ही कम सम्मान प्राप्त होता है। जब बङ्गाल, महाराष्ट्र या आन्ध्र के विद्वान् सम्मेलन का बड़ा नाम सुन कर उसके प्रतिनिधि रूप मौलिचन्द्र शर्मा के दर्शन करते हैं, तब सोचिये हमारी भाषा और साहित्य के प्रति उनके हृदय में कितना सम्मान उत्पन्न होता होगा।

युद्ध काल में और विशेष रूप से उसके बाद, हिन्दी प्रकाशन पर पूँजीवादी प्रभुत्व बढ़ता गया है। जो बातें अभी तक बड़े-बडे पूँजीवादी देशों मे होती थीं, वे अब हमारे देश मे भी होने लगी हैं। बिड़ला, डालमिया और गोयनका के सामने अब कोई भारतेन्दु या प्रतापनारायण मिश्र की तरह चवन्नी का अखबार निकाल कर जीवित नही रह सकता। हिन्दी के अच्छे-अच्छे पत्र बन्द होते जा रहे हैं। कुछ लेखक मिल कर नये पत्र निकालते हैं तो एक-दो अङ्क चल कर वे फिर भी ठप हो जाते हैं।

कारण यह है कि प्रकाशन की कठिनाइयों का सामना करना साधारण प्रकाशकों के वश की बात नहीं रही। बड़े-बड़े पूँजीवादी प्रकाशको के लिए चोर बाजार में कागज की कमी नहीं है। वे हर साधन से कागज लेकर हजारों पुस्तके प्रकाशित कर सकते हैं और कर रहे हैं। हिन्दी लेखकों से थोड़ी कीमत पर पुस्तके लेकर, हिसाब मे हर तरह की बेईमानी करके वे उन्हें बुरी तरह ठगते हैं।

जैसी गैर क़ानूनी धाँधली प्रकाशन के मामलो मे चलती है, वैसी समाज में और कहीं नहीं चलती।

इसलिये हिन्दी के अधिकाश लेखक प्रकाशन की वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं।

लेकिन इसके साथ ही कुछ स्वार्थी लेखकों का एक ऐसा गुट भी बन गया है जो इस व्यवस्था की चाटुकारिता में ही साहित्य के नवो रसो की

सिद्धि देखता है। जहाँ भी उसे पूँजीवादी व्यवस्था और मुनाफाखोरी का जरा सा भी विरोध दिखाई देता है, वही वह सपने मे घिग्घी बँधे हुए आदमी की तरह 'रूस-रूस' चिल्ला उठता है।

सम्मेलन के मच से कुछ लोगो ने यह अपील करके कि हिन्दी लेखको की सूची से प्रगतिशील लेखको का नाम काट दिया जाय, पूँजीवाद की चाटुकारिता का अच्छा परिचय दिया है। जिनमे कहने की हिम्मत नही है, वे इस ओर से ऑख मूँद लेते हैं और समझ बैठते हैं कि इस तरह प्रगतिशील साहित्य का अस्तित्व ही मिट जायेगा।

पिछले दस वषो मे हिन्दी साहित्य की प्रमुख और बलवती धारा प्रगतिशील साहित्य की रही है। पुरानी पीढी के कवि और लेखक इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। नयी पीढी का कोई भी लेखक इससे तटस्थ नही है। जो इसके विरोधी हैं, उनकी क्रियायें देखने लायक हैं।

एक मतिराम के भविष्य का उद्धार करने मे लगे हैं और दावा करते हैं कि नये हिन्दी साहित्य मे जब तक रीतिकालीन परम्परा पुनर्जीवित न की जायेगी तब तक साहित्य की श्राद्ध अधूरी रहेगी। इस परम्परा को रामचन्द्र शुक्ल से लेकर सुमित्रानन्दन पत तक हिन्दी के प्रमुख कवियों और अलोचको ने काफी गहरे दफना दिया है। क़ब्र से निकल कर एक बार मुर्दा भले ही बोलने लगे, नायिका भेद की परिपाटी फिर जीवित नहीं हो सकती।

दूसरे महाशय कहते हैं कि साहित्य काम-वासना से उत्पन्न होता है। मनुष्य की इच्छाएँ पूरी नही होती, तब वे साहित्य के नये गुल खिलाती हैं। इसलिये प्रगति और प्रतिक्रिया की बात करना बिल्कुल बेकार है। हिन्दुस्तान आजाद हो चाहे गुलाम, हमे उससे क्या लेना-देना ! शक्कर दस रुपये मन बिके चाहे साठ रुपये मन, हम तो अचेतन मन की मिसरी ही खायेंगे। यह मिसरी बहुत-सी कविताओं और कहानियो मे घुल-घुलकर हिन्दी साहित्य में नये रस की सृष्टि कर रही है। कुछ लोगों

को प्रगतिशील साहित्य के खिलाफ यह एक नया मोर्चा देखकर बड़ी खुशी होती है। वे समझते हैं कि कम से कम लेखक जैसे अपार्थिव लोग जमींदारी प्रथा और पूँजीवाद को खतम करने की निहायत भौतिकवादी बाते तो न करें।

कुछ और लोग हैं जो साहित्य मे हिन्दू राष्ट्र को स्थापित करके हिन्दी को अमर कर देना चाहते हैं। इनके पूर्वज जर्मनी मे आर्य-राष्ट्र स्थापित करके एक ऐसे महान् साहित्य को सृष्टि कर गये हैं जिसकी एक पक्ति भी अब लोगो को याद नहीं है।

हमारे देश को जनतन्त्र मे विश्वास, स्वाधीनता से प्रेम, अन्याय से घृणा, जनता के सगठन और उसकी रचना शक्ति मे आस्था की जरूरत है। आज का लेखक निराशवादी होकर महान् साहित्य की सृष्टि नही कर सकता। अवसरवाद के सहारे लेखक मे वह आवेश पैदा हो ही नहीं सकता जो गम्भीर साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है। नये साहित्य की रचना के लिए सैद्धान्तिक दृढता चाहिये। प्रतिक्रियावादी देशों की नक़ल करके साहित्य और सस्कृति का भला नही किया जा सकता।

सम्मेलन के कर्णधार जब तक नये पूँजीवादी आक्रमण का विरोध नही करते, साहित्य की पतनोन्मुख धाराओं की ओर सकेत करके नये रचनात्मक साहित्य का निर्देश नहीं करते, तब तक सम्मेलन हिन्दी लेखकों की लोकप्रिय सस्था नहीं बन सकता।

आज की परिस्थिति में हिन्दी उर्दू का प्रश्न हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न बनाकर बहुत साम्प्रदायिक ढङ्ग से जनता के सामने रक्खा जाता है। जो हिन्दू राष्ट्रवादी यह कहते हैं कि पाकिस्तान बनने पर मुसलमानों के लिए यहाँ पर कोई स्थान न होना चाहिये, उन्हीं का यह भी दावा है कि पाकिस्तान की भाषा उर्दू होनी चाहिये, हिन्दुस्तान में अब उसके लिए कोइ स्थान नहीं है। इससे बड़ी प्रतिक्रियावादी बात दूसरी नहो हो सकती।

यह नीति उर्दू के लिए घातक हो चाहे न हो, हिन्दी के लिए अवश्य घातक है, ऐसी संकीर्णता से किसी भी भाषा का विकास नहीं हो सकता।

हिन्दी और उर्दू का मौलिक धरातल एक है। दोनों के ८० फी सदी शब्द साधारण बोलचाल के हैं। जब हम हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे की विरोधी भाषा मान लेते हैं तब हम उनकी इस ८० फी सदी समानता पर ही आघात करते हैं। इस विरोध को बढाने का मतलब है, हिन्दी और उर्दू को क्लिष्ट बनाना, ऊपर से उन्हें जनता की भाषा कहना लेकिन वास्तव में उन्हें जनता से कोसों दूर ले जाना।

भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने इस तरह की भाषा का कभी समर्थन नहीं किया। हिन्दी को साम्प्रदायिकता की ओर खींच कर ये लोग हिन्दी की परम्परा के प्रति आज बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हैं।

हिन्दी के वास्तविक शत्रु उर्दू वाले नहीं हिन्दी के ही ये कथित हितैषी हैं।

इस बात की जरूरत है कि सम्मेलन के मञ्च से हिन्दी-उर्दू की खाई को और गहरा न करके उसकी ८० फी सदी समानता पर जोर दिया जाय। दुनियाँ की कोई दो भाषाएँ एक दूसरे के इतना नजदीक नहीं हैं जितनी कि हिन्दी और उर्दू। इन दोनो का विकास बगाल या बलूचिस्तान मे नहीं हो सकता, इनके बोलने वाले एक ही प्रदेश में रहते हैं। परिस्थितियो से मजबूर होकर दोनो भाषाओ को एक होना पड़ेगा। ८० फी सदी समानता बढेगी और वह २० फी सदी भेदभाव को खतम कर देगी।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान पर जो बँटवारा लादा है, उसका घातक परिणाम हम भाषा के क्षेत्र में देख रहे हैं। सम्प्रदायवादियो ने उसी से शह पाकर हिन्दी के साथ हिन्दू राष्ट्र का नारा जोड़ दिया है।

,इस गठबधन का भविष्य उतना ही उज्ज्वल है जितनी अग्रेजी साम्राज्य-वाद का।

इसलिए सम्मेलनों मे भाग लेने वाले हिन्दी प्रेमियों के लिए आवश्यक है कि वे अपने हिन्दी-प्रेम को स्वाधीनता और जनतन्त्र के मार्ग पर ले चलें। अन्य भाषाओं से अपने आदान-प्रदान की नीति को न छोड़ें।

पन्द्रह अगस्त सन् ४७ के बाद सम्मेलन के इस प्रथम अधिवेशन में सम्मेलन का मञ्च साम्प्रदायिकता का अखाड़ा न बनना चाहिये बल्कि परस्पर मैत्री और सहानुभूति का सन्देश वहाँ से जनता तक पहुँचना चाहिये।

साम्प्रदायिक दगो की निन्दा करके, साहित्य पर पूँजीवादी आक्रमण का विरोध करके सम्मेलन नयी साहित्य रचना का प्रदर्शन कर सकता है।

हिन्दी और उर्दू के प्रश्न पर उसे स्पष्ट करना होगा कि हिन्दी के किस रूप की वह राष्ट्रभाषा के लिए माँग करता है।

यदि प० अमरनाथ झा की बात फिर दुहराई जाती है तो ऐसी हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर वह, यू० पी० के हिन्दी बोलने वालों की भाषा भी न बन सकेगी।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा यू० पी० के जन-साधारण की प्रचलित भाषा हो सकती है जो हिन्दी और उर्दू दोनों का ही आधार है। इस आधार को भूल कर जो बालू की भीत्ति पर राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश करेंगे, उन्हे बहुत जल्द निराश होना पड़ेगा।

दिसम्बर १९४७

सामाजिक प्रगति और शाश्वत सत्य की खोज

[जी० अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक 'पच्छिमी' यूरोप के दर्शन का इतिहास' पर ए० ए० ज्दानोव के आलोचनात्मक भाषण का परिचय]

ए० ए० ज्दानोव का नाम साहित्य, दर्शन और राजनीति, तीनों ही क्षेत्रो मे विश्व-प्रसिद्धि पा चुका है। यूरोप की नौ कम्युनिस्ट पार्टियों की पहली बैठक मे उन्होने ही 'अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति' पर अपना प्रसिद्ध भाषण दिया था। अभी हाल मे कामिनफार्म की जिस बैठक मे यूगोस्लाविया के कम्युनिस्ट नेताओं पर प्रस्ताव पास किया गया है, उसमें भी सोवियत सङ्घ की ओर से मालेंकोव और सुस्लोव के साथ ज्दानोव उपस्थित थे। 'स्वेज्दा' (नक्षत्र) और 'लेनिनग्राद' नाम की सोवियत पत्रिकाओ के खिलाफ सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से भी ज्दानोव ने ही रिपोर्ट पेश की थी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्यिक समस्याओं की जो विवेचना इस रिपोर्ट मे हुई है, सारी दुनियाँ मे वह बडे चाव से पढ़ी गई है।

अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक पर ज्दानोव का आलोचनात्मक भाषण सभी मार्क्सवादियों के लिए—खास तौर से साहित्य और दर्शन के विद्यार्थियों के लिए—बहुत महत्वपूर्ण है।

अलेग्जान्द्रोव को दर्शनशास्त्र के इतिहास पर एक पाठ्य-पुस्तक तैयार करने का काम सौंपा गया था। उनकी पुस्तक का नाम 'पच्छिमी यूरोप के दर्शनशास्त्र का इतिहास' ही यह जाहिर करता है कि उन्होने भारत, चीन आदि पूर्वी देशो के दर्शन को छोड़ दिया है। इसके अलावा रूस के दार्शनिको की रचनाओ को भी उन्होने छोड़ दिया है। यूरोप की आधुनिक विचारधाराओं की भी उन्होने विवेचना नही की और पुस्तक १८४८ तक आकर रुक जाती है। इन कारणों से उनकी

यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पाठ्य पुस्तक नहीं बन पाई, वैसे उसमे और खामियाँ चाहे न भी होतीं।

इतने देशो और युगो के दार्शनिक चिन्तन पर पुस्तक लिखना एक आदमी के लिए बहुत ही कठिन था। ज्दानोव ने इस लेखन-पद्धति की आलोचना करते हुए बताया है कि अलेग्जान्द्रोव को अपने काम में देश के दूसरे दार्शनिको से सहायता लेनी चाहिये थी जो मास्को के अलावा दूसरे छोटे बडे शहरों में काम करते थे। दार्शनिक ही नहीं, इतिहासकारों और वैज्ञानिको से भी विचार-विनिमय करके यह किताब लिखनी चाहिये थी जिससे दर्शनशास्त्र के विद्वानो को ही लाभ न होता वरन् ज्ञान-विज्ञान की इन शाखाओं का भी परस्पर परिचय बढ़ता। इससे जाहिर है कि ज्दानोव दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पुस्तक लिखने को कितना महत्व देते हैं।

यह महत्व वैज्ञानिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार का है। इस तरह की पुस्तक लिखे जाने से 'सोवियत बुद्धिजीवियों, कार्यकर्त्ताओं और नौजवानों के हाथ में एक नया शक्तिशाली सैद्धान्तिक अस्त्र ही न आ जाता बल्कि मार्क्सवादी—लेनिनवादी दर्शन के विकास में एक बहुत बड़ा कदम उठाया जाता।'

इस महत्व को दृष्टि में रखकर सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने इस पुस्तक पर दार्शनिक मोर्चे की खामियो और उसके कर्तव्यो पर विचार करने के लिए जून १९४७ मे एक सम्मेलन किया। उसमें ८३ भाषण इस विषय पर हुए। ज्दानोव ने अपने भाषण के आरम्भ में ही कह दिया है कि वह तमाम बहस का सराश निकाल कर अपनी राय देने नहीं जा रहे, वह बहस में हिस्सा लेने वाले की हैसियत से बोल रहे हैं।

सबसे पहले उन्होने यह बताया है कि दर्शनशास्त्र के इतिहास पर लिखी जाने वाली पुस्तक को कौन-कौन-सी शर्तें पूरी करनी चाहिये।

पाठक देखेंगे कि ये शर्तें अन्य विषयो का इतिहास लिखते हुए भी अनिवार्य रूप से ध्यान मे रखने योग्य हैं।

'पहले तो यह जरूरी है कि विषय की—विज्ञान के रूप मे दर्शन-शास्त्र के इतिहास की, स्पष्ट व्याख्या की जाय।

'दूसरे, पुस्तक वैज्ञानिक हो, यानी वह द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की अब तक की अर्जित सम्पत्ति के आधार पर रची गई हो।'

'तीसरे, दर्शनशास्त्र के इतिहास की व्याख्या रचनात्मक हो न कि 'स्कोलैस्टिक' उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वर्त्तमान काल में पूरा किये जाने वाले कामो से होना चाहिये। उससे इन कामो पर प्रकाश पड़ना चाहिये और दर्शनशास्त्र के अगले विकास की रूपरेखा सामने आनी चाहिये।

'चौथे, जो तथ्य पेश किये जायें वे पूरी तरह जाँचे हुए हो।

'पाँचवें, शैली स्पष्ट, निश्चित अर्थ वाली और पाठक को विश्वास दिलाने वाली [clear, Precise and convincing] होनी चाहिये।'

देखने मे ये पाँचो शर्तें बहुत सीधी हैं और उनका जिक्र करना भी बेकार मालूम होता है, लेकिन साहित्य और दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पुस्तकें उठाइये तो इन्ही की कमी मिलेगी। हिन्दुस्तान मे खास तौर से दर्शनशास्त्र को शब्दो के बड़े-बड़े गहने पहना कर बिल्कुल जड़ प्रतिमा की तरह किसी मन्दिर के कोने मे (हृदय-मन्दिर मे नहीं) बिठा दिया जाता है जहाँ किसी ससार से उदास-तटस्थ या पूँजीपतियो की दक्षिणा पाने वाले पुजारी की ही पैठ हो सके।

तीसरी शर्त पर हमारे यहाँ के शाश्वतवादी नाक-भौं सिकोड़ेंगे। भला दर्शनशास्त्र का वर्तमान काल के पूरा किये जाने वाले कामो से क्या सम्बन्ध? जब हमारा दर्शन ही देश काल के परे है, तब उसका इतिहास लिखते हुए वर्तमान की मुसीबतो का बोझ ढोना कहाँ की दार्शनिकता है।

शाश्वतवादी कहेंगे—हम मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को दर्शन मानते ही नही , उसका इतिहास क्या लिखना ?

इसका भौतिकवादियो के पास स्पष्ट उत्तर है—'हम तो अपने दर्शन को देश-काल यहाँ तक कि वर्ग तक से बँधा हुआ मानते हैं। आपके देश-काल से परे होने का मतलब भी हम खूब समझते हैं। और हम दिखाते हैं कि किस तरह आपका दर्शन देश काल ही नही, वर्गों से और वह भी सामाजिक प्रगति के विरोधी वर्गों से बुरी तरह बँधा हुआ है।

इन्हीं पाँच शर्तों पर ज्दानोव ने अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक को परखा है और आगे चलकर सोवियत सङ्घ में दार्शनिक और सैद्धातिक मोर्चे के काम बताये हैं।

सबसे पहले उन्होंने दर्शनशास्त्र की व्याख्या को लिया है। अलेग्जान्द्रोव की व्याख्या यह है—'दर्शनशास्त्र का इतिहास मनुष्य द्वारा अपने चारों ओर के ससार के प्राप्त ज्ञान के प्रगतिशील और उच्चतर विकास का इतिहास है।'

इस पर ज्दानोव ने यह आलोचना की है—'इसका मतलब यह होगा कि दर्शनशास्त्र के इतिहास का विषय वही है जो आम तौर से विज्ञान के इतिहास का है। ऐसी हालत में दर्शनशास्त्र विज्ञानो मे परम विज्ञान सिद्ध होगा। मार्क्सवाद ने इस धारणा को बहुत पहले ठुकरा दिया था।'

इसी तरह ज्दानोव के अनुसार यह कहना भी गलत है कि दर्शनशास्त्र का इतिहास अनेक समसामयिक विचारो के उत्थान और विकास का इतिहास है। कारण यह कि इस व्याख्या मे 'समसामयिक' को 'वैज्ञानिक' का पर्यायवाची मान लिया गया है।

ज्दानोव ने दर्शनशास्त्र के इतिहास पर लेनिन के ये वाक्य उद्धृत किये हैं—"हेगेल के दर्शन के इस क्रांतिकारी पहलू को मार्क्स ने स्वीकार किया और उसे विकसित किया। द्वद्वात्मक भौतिकवाद को 'अब ऐसे

किसी दर्शन की जरूरत नहीं है जो दूसरे विज्ञानों के ऊपर हो।' पुराने दर्शन मे से अब रह गया है 'विचार-विज्ञान और उसके नियम—तर्क शास्त्र [फार्मल लाजिक] और द्वद्ववाद।' और द्वद्ववाद मे, जैसा मार्क्स ने उसे समझा था, और जो हेगल के अनुकूल है, वह भी शामिल है जिसे आजकल ज्ञान का सिद्धात या एपिस्टेमोलौजी कहा जाता है। इस सिद्धात के लिए भी जरूरी है कि वह अपनी विषय-वस्तु की ऐतिहासिक विवेचना करे, ज्ञान के उद्गम और विकास का, अज्ञान से ज्ञान की ओर सक्रमण का, अध्ययन करे और उससे व्यापक नतीजे निकाले।" (लेनिन, सक्षिप्त ग्रन्थावली, खड ११, पृ० १७)

इस आधार पर ज्दानोव ने दर्शनशास्त्र के इतिहास की विषय-वस्तु की यों व्याख्या की है—'इसलिये दर्शनशास्त्र का वैज्ञानिक इतिहास विश्व के प्रति वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति, उत्थान और विकास का इतिहास है। भौतिकवादी का अभ्युदय और विकास आदर्श-वादी धाराओ से टक्कर लेकर हुआ है, इसलिये दर्शनशास्त्र का इतिहास आदर्शवाद से भौतिकवाद के सङ्घर्ष का इतिहास भी है।'

निःसन्देह, यह व्याख्या बहुत लोगों को अग्राह्य होगी और वे आदर्श वादी ग्रन्थों के प्रति इस व्यवहार'से प्रसन्न न होगे। मार्क्सवाद शोषित वर्ग का, नये समाज के निर्माताओं का दर्शन है, इसलिये यह व्यवहार अवश्यभावी है। मार्क्स और लेनिन के अनुसार पुराने दर्शन मे से काम की चीज तर्कशास्त्र और द्वद्ववाद बच रहती है। आदर्शवादी इतने से चाहें तो सन्तोष कर सकते हैं।

ज्दानोव ने इस धारणा का खडन किया है कि मार्क्सवाद पहले की प्रगतिशील विचार-धाराओ का—फ्रास के भौतिकवादियों, इगलैंड के अर्थशास्त्रियों और हेगेल के आदर्शवाद का सहज उत्तराधिकारी बनकर आ गया है। मार्क्सवाद दर्शनशास्त्र में एक क्राति है। यह क्राति पहले के दार्शनिक चिन्तन के बिना न हो सकती थी, लेकिन उस क्राति से

उस पहले के दार्शनिक चिन्तन का अन्त भी हो गया। अलेग्जान्द्रोव ने यह नही समझा कि 'मार्क्स और एंगेल्स ने एक नये दर्शन की रचना की थी जो गुणात्मक रूप से पहले की तमाम दार्शनिक धाराओं से, वे कितनी भी प्रगतिशील रही हों, भिन्न था।'

मार्क्स के पहले दर्शनशास्त्र कुछ थोडे से तत्वज्ञानियों और गुरु-चेलों की सम्पत्ति था। मार्क्सवाद उस तरह का दर्शन न होकर उस सर्वहारा वर्ग के हाथ मे एक वैज्ञानिक अस्त्र है जो पूँजीवाद से मुक्त होने के लिए सङ्घर्ष करता है। पहले के दर्शनशास्त्र अन्य विज्ञानों से दबे रहते थे, लेकिन मार्क्सवाद 'वैज्ञानिक खोज का अस्त्र है, एक पद्धति है, जो तमाम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो में प्रवेश करता है, उनके विकास क्रम में उनकी सफलताओ से, समृद्ध होता है। इस अर्थ में मार्क्सीय दर्शन पहले के तमाम दर्शन का पूरा-पूरा और निश्चित अभाव (निगेशन) है। लेकिन जैसा कि एंगिल्स ने जोर देकर कहा था, अभाव का मतलब 'ना' कह देना नहीं है। अभाव मे पूर्व क्रम का चालू रहना भी शामिल है। उसमें पूर्व क्रम को आत्मसात् करना भी होता है जब कि मानव विचारो के इतिहास में जो कुछ प्रगतिशील और अग्रसर है, उसे समीक्षा की निगाह से फिर सँवार कर एक नये और ऊँचे सिन्थिसिस मे उसका एकीकरण होता है। इसीलिये यह जरूरी हो जाता है कि द्वद्ववाद का वर्णन करने के लिए उस पहले की तैयारी का वर्णन किया जाय जिससे वह सम्भव हुआ है। अलेग्जान्द्रोव का यह दोष रहा है कि दर्शनशास्त्र के विकास का ठोस ऐतिहासिक क्रम नहीं समझ पाये।'

ज्दानोव ने बताया है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में दार्शनिक प्रश्नों पर लोगों के मत ही नहीं बदला करते, बल्कि इन प्रश्नो का दायरा, दर्शनशास्त्र की विषय वस्तु ही बदल जाती है। मानवीय बोध का जो द्वन्द्वात्मक स्वभाव है, यह बात उसके अनुकूल भी है।

ज्दानोव का यह तर्क दर्शन के शाश्वत प्रश्नों और उनके शाश्वत

उत्तरो के प्रतिकूल पडता है। ज्दानोव ने इस धारणा का खडन किया है कि प्राचीन ग्रीस मे दर्शनशास्त्र ज्ञान का एक स्वतन्त्र विषय बन गया था। यूनानियों के दार्शनिक विचार उनके प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति सम्बन्धी विचारो से इतना मिले-जुले हुए थे कि उन पर आधुनिक विज्ञानो का विभाजन लादना भारी भूल होगी।

दर्शनशास्त्र का इतिहास यह दिखाता है कि जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति और समाज सम्बन्धी ज्ञान बढा, वैसे-वैसे एक के बाद एक पदार्थ विज्ञान उससे अलग होते गये। पदार्थ विज्ञान के विकास से दर्शन शास्त्र की परिधि सकुचित होती गई और यह काम अभी भी बन्द नहीं हुआ। ज्दानोव के अनुसार यह अलगाव पदार्थ-विज्ञान ही नहीं, दर्शन-शास्त्र के लिए भी एक प्रगतिशील क्रिया थी।

शाश्वत सत्य की इस खोज से सत्य तो नहीं मिला, उल्टा विज्ञान की प्रगति में बाधा जरूर पड़ी। ज्दानोव ने इस बाधा का यों उल्लेख किया है :—

'पूर्व युग के दर्शनकारों ने, जो शाश्वत सत्य को उसके चरम रूप मे जानने का दावा करते थे, प्राकृतिक विज्ञान को विकसित करने मे अपने को असमर्थ ही दिखाया। विज्ञान से ऊपर चढ़ कर बोलने का हौसला रखने के कारण ये विज्ञान पर अपनी कोई सिद्धान्त-रचना लाद देते थे। वे सजीव मानवीय बोध पर ऐसे परिणाम लादते थे जो वास्तविक जीवन से न निकलते थे बल्कि जो उनकी सिद्धात-रचना की जरूरतो को पूरा करते थे।'

इस तरह का दर्शन ससार को समझने और अमली कदम उठाने मे मददगार न हो सकता था। हेगेल ने भी अपनी दार्शनिक व्यवस्था मे इसी तरह तमाम विज्ञान को फिट करने की कोशिश की थी।

मार्क्स और एगेल्स ने दार्शनिक चितन का ध्येय ही बदल दिया। मानव समाज अपनी समूची प्रगति के बाद जिस बात को जान सकता

है, उसे एक दार्शनिक व्यक्ति नहीं जान सकता। यह बात दिल में बैठ जाने पर पुराने दर्शनशास्त्र का अन्त हो जाता है। ज्दानोव ने एंगेल्स का यह मत उद्धृत किया है—'तब हम उस 'शाश्वत सत्य' को एक तरफ रख देते हैं जो इस रास्ते पर चल कर, या किसी एक व्यक्ति को, नहीं मिल सकता। इसके बदले हम सापेक्ष और प्राप्य सत्य की खोज मे चल पड़ते हैं और निश्चित विज्ञान (पॉजिटिव सायस) के रास्ते पर चलते हुए द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति से उस विज्ञान के परिणामो का समीकरण (Summation) करते हैं।' (फ्रीडरिख एंगेल्स लुडविग फायरबाख, पृ० २५)।

इस तरह उस दार्शनिक धारा का अत हुआ जो ससार की शाश्वत व्याख्या करने का दावा करती थी।

शाश्वतवाद के प्रति मार्क्सवाद की यह धारणा साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बड़े महत्व की है। यदि दर्शनकार शाश्वत सत्य के लिए ही चिंतित हैं तो साहित्यकार तो सत्य, शिव, सुन्दर—तीनों के लिए चिंतित है। इसलिए उसकी चिन्ता दर्शनकार से भी बढ जाती है। अपने को मार्क्सवादी समझने वाले कई लेखक इस शाश्वतवाद को लपेट में ऐसे आ जाते हैं कि मार्क्सवाद को भरा-पूरा बनाने के लिए फ्रायड के मनो-विज्ञान से उसका समन्वय करने दौड़ पड़ते हैं। वे राजनीतिक और सामाजिक महत्व के विषयो पर लिखे हुए साहित्य को हेच ठहराते हैं क्योकि उनकी दृष्टि मे यह सामाजिक और राजनीतिक महत्व देश-काल से बॅधा हुआ है जब कि साहित्य को शाश्वत सौदर्य की खोज मे इनसे परे रहना चाहिये। इस तरह के शाश्वतवादी साहित्यकारों का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शाश्वतवाद की ही एक शाखा उन मानववादियो की है जो साहित्य, दर्शन और सस्कृति को वर्गों से परे मानव-मात्र की रचना और सपत्ति मानते हैं। उनका यह कथित मानववाद दरअसल वर्ग-स्वार्थों को

छिपाता है। अलेग्जान्द्रोव में भी यही दोष है कि वह दर्शन के वर्ग और पार्टी-रूप से इनकार करते हैं हालाँकि यह बात मार्क्सवाद का अभिन्न अङ्ग है ('denying the principle of the party-character of philosophy' in herent in Marxism Leninism') ज्दानोव ने गैरभौतिकवादी धाराओं से लेनिन के सङ्घर्ष की ओर ध्यान खींचते हुए बताया है कि परस्पर विरोधी दार्शनिक धाराओ को मिलाना लेनिन हमेशा प्रतिक्रियावादियों की चाल समझते थे।

इस तरह समन्वयवाद का असली रूप प्रतिक्रियावाद ही ठहरता है।

अलेग्जान्द्रोव ने एक लड़ाकू सर्वहारा दृष्टिकोण न अपना कर प्रोफेसरो की तरह यह भी अच्छा वह भी अच्छा, कहते हुए पूँजीवादी विचारकों का धूप और नैवेद्य से सत्कार किया है। इसके विपरीत ज्दानोव ने लेनिन का यह मत उद्धृत किया है कि 'भौतिकवाद मे, कहना चाहिए, पार्टी-बन्दी शामिल है, यानी यह लाजमी है कि किसी भी घटना का मूल्याकन करते हुए साफ-साफ और सीधे-सीधे एक निश्चित सामाजिक गुट का दृष्टिकोण अपनाया जाय।'

(लेनिन ग्रथावली, खड १, पृ० २७६ रूसी सस्करण)

भौतिकवाद के विरोधियों का पर्दाफाश न करके अलेग्जान्द्रोव उनके साथ नर्मी से पेश आये हैं। खास तौर से उन्हें उन दार्शनिक धाराओं पर कस कर चोट करनी चाहिये थी जो प्रतिक्रियावादियों का अस्त्र बने हुए हैं।

कौन से विचार प्रतिक्रियावादी हैं, कौन से प्रगतिशील हैं, इस बारे में ज्दानोव की यह उक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है—अलेग्जान्द्रोव 'बार-बार मार्क्सवाद की इस मान्यता को भूल जाते हैं कि अलग-अलग ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों मे एक ही विचार प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशील हो सकता है। लेखक ने इस बात का खुलासा न करके इस आदर्श-

वादी धारणा के लिए गुञ्जाइश रहने दी है कि विचार इतिहास से स्वतन्त्र हैं ।'

जो 'प्रगतिशील' लेखक अब भी इस भ्रम मे हो कि जब तक तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला मे एक से ही विचार न होगे, तब तक हम उन्हें प्रगतिशील न कह सकेंगे, वे ज्दानोव के वाक्यो को दो-तीन बार ध्यान से पढ लें । शाश्वतवादियो के चकमे मे आकर वे स्वय 'प्रगतिवाद' को एक शाश्वतवाद के रूप मे पेश करने लग जाते हैं । यदि प्रतिक्रियावाद नाम का कोई वाद विशेष नही है तो प्रगतिवाद नाम का भी कोई शाश्वतवाद असम्भव है । प्रगतिशील साहित्य निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियो की उपज ही हो सकता है और इस तरह प्रगतिशीलता के मानदड भी बदलना अवश्यभावी है ।

ज्दानोव ने कहा है कि विचारो को इतिहास से स्वतत्र मानना आदर्शवादी दर्शन की विशेषता है ।

निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियो से किसी विचारधारा का सम्बन्ध कैसे दिखाया जाता है, यह ज्दानोव ने मिसाल देकर समझाया है । पहला उद्धरण उन्होने अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक से दिया है जिसमें उन्होने शहरी आबादी के फी सदी जोड़कर जर्मनी के पिछड़ेपन और वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिक्रियावादी रूप का सम्बन्ध दिखाया है ।

ज्दानोव ने इस पर यह आपत्ति की है कि उस समय फ्रास की शहरी आबादी की फी सदी भी कम थी, लेकिन फ्रास पिछडा हुआ सामती देश न होकर यूरोप के पूँजीवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन का केन्द्र था । इससे साबित होता है कि ऐतिहासिक सामग्री के उपयोग का यह तरीका गलत है ।

अलेग्जान्द्रोव से एक उद्धरण ज्दानोव ने और दिया है जो इस प्रकार है :—'उस युग में जर्मन पूँजीपतियो के प्रमुख विचारको ने—

काएट, और बाद को फिख्टे और हेगल ने—अपने आदर्शवादी दर्शन द्वारा, सूक्ष्म रूप में (in an abstract form), जर्मन यथार्थ की सङ्कीर्णता द्वारा निश्चित, उस युग के जर्मन पूँजीपतियों की विचारधारा को प्रकट किया था।'

ज्दानोव ने इस पर लिखा है— 'तथ्यो का यह निर्जीव, उदासीन और वस्तुवादी (objectivist) वर्णन है जिसमें यह समझ सकना नामुमकिन है कि जर्मन आदर्शवाद की उठान के सबब क्या थे। इससे जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियो की मार्क्सवादी विवेचना की तुलना कीजिये जो एक सजीव और लड़ाकू (militant) शैली मे, पाठक के हृदय में पैठने वाली मार्मिक शैली मे, पेश की गई है।'

इसके बाद ज्दानोव ने एंगेल्स से एक लंबा उद्धरण दिया है जिसमे जर्मन आदर्शवाद को पनपने और बढने देने वाली परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न बार-बार प्रगतिशील लेखको के सामने आता है, इसलिए वह पूरा उद्धरण देना अनुचित न होगा।

जर्मनी की परिस्थितियो पर एंगेल्स :—

'चारों तरफ सड़ाँद और घोर पतन की दुर्गंध फैली हुई थी। चैन किसी को न था। वणिज-व्यापार, उद्योग-धंधे और खेती-बाड़ी करीब-करीब चौपट थे। किसानो, व्यापारियो और कारखानेदारो पर खून चूसने वाली सरकार और बिगड़े हुए व्यापार की दोहरी मार थी। राजे-रईस देख रहे थे कि छोटो से कस कर रकम वसूल करने पर भी उनके बढते हुए खर्चे पूरे नही पड़ते। हर चीज बिगड़ी हुई थी और देश मे एक आम बेचैनी फैली हुई थी। शिक्षा नहीं, जनता के दिमाग पर असर डालने के साधन नही, आजाद प्रेस नहीं, पब्लिक स्पिरिट नही, दूसरे देशो से व्यापार नही, स्वार्थ और ओछेपन को छोड़कर और कुछ भी नहीं। तमाम लोगो में एक घटिया, ओछा और पतित दूकानदारी

का भाव घुसा हुआ था। हर चीज सड़ी-गली और ढहती हुई, अच्छे हेर-फेर की राई भर आशा नहीं, जाति मे इतनी भी ताकत नहीं कि मृत सस्थाओ की सड़ती हुई लाशो को उठाकर फेंक दे।'

('नार्दर्न स्टार,' २५ अक्टूबर, १८४५)

इतिहास की तरफ यह सजीव दृष्टिकोण न होने से अलेग्जाद्रोव दार्शनिक धाराओं को सामाजिक परिस्थितियो से सही-सही नहीं जोड़ पाये।

ज्दानोव के अनुसार दर्शनशास्त्र के इतिहास को लिखने का एक उद्देश्य है। वह यह कि दर्शनशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में आगे बढाया जाय, नये नियम निकाले जायँ, अमल से सिद्धातो को परखा जाय और पुरानी धारणाओ की जगह नयी धारणाएँ स्थापित की जायँ। यह उद्देश्य साफ-साफ सामने न होने से दर्शनशास्त्र का इतिहास लिखना आराम कुर्सी पर समाधि लगाने जैसे हो जाता है। ज्दानोव ने इस बात पर जोर दिया है कि मार्क्सवाद लेनिनवाद को चरम विकास पर पहुँचा हुआ दर्शन मान लेना भारी भूल है। उसे पूर्ण इकाई मानना आधिभौतिक (मेटाफिजिकल) कल्पना है। उसे विकसित करना एक प्रमुख कार्य है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद प्राकृतिक विज्ञान की सफलताओ के आधार पर विकसित हुआ है—अलेग्जान्द्रोव ने यह सम्बन्ध नहीं दिखाया। ज्दानोव ने लेखक की प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियो की मिसाले दी हैं। एगेल्स ने कहा था कि द्वंद्वात्मक पद्धति के लिए तीन आविष्कारो ने मार्ग प्रशस्त किया था—सेल्यूलर थ्योरी ने, शक्ति के परिवर्तन और जमाव के सिद्धान्त ने और डारविन के सिद्धान्त ने। इसके बदले अलेग्जान्द्रोव ने १८वीं सदी के आविष्कारों के द्वद्ववाद का नाता जोड़ा है।

पुस्तक की चर्चा समाप्त करते हुए ज्दानोव ने उसे दोहराने और ठीक करने पर जोर दिया, लेकिन यह चेतावनी दी कि यह काम तभी हो सकता है जब दर्शनकार अपनी भ्रान्तियो और उलझनो को दूर कर ले।

अपने भाषण के दूसरे भाग मे ज्दानोव ने सोवियत सङ्घ मे सैद्धातिक मोर्चे की खामियो का जिक्र किया है जिनसे ऊपर बताई हुई भूले सभव हुई। ख़ास ख़ामी दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे दूसरो की ओर अपनी आलोचना का अभाव है। ज्दानोव के अनुसार इस मोर्चे पर काम करने वाले मार्क्सवाद लेनिनवाद की मूल बातो से काफी परिचित नहीं हैं और पूँजीवादी विचारधारा के अवशेष उनमें मौजूद हैं। बहुत से कार्यकर्ता अब भी यह नहीं समझते कि मार्क्सवाद लेनिनवाद एक सजीव, रचनात्मक (क्रियेटिव) सिद्धान्त है जो बराबर विकसित होता है और समाजवादी निर्माण तथा सामयिक प्राकृतिक विज्ञान की सफलताओ से समृद्ध होता है। अपने सिद्धान्त के इस सजीव, क्रान्तिकारी पहलू को कम करके आँकने से दर्शनशास्त्र और उसकी भूमिका जरूर नीचे गिरती है।'

अक्सर लोग पूछते हैं कि सोवियत सङ्घ में वर्ग सघर्ष मिट गया है, फिर वहाँ सामाजिक प्रगति किस तरह होती है? द्वन्द्ववाद के अनुसार विरोधी तत्वो के बिना अगर प्रगति असम्भव है तो फिर सोवियत सङ्घ के ये विरोधी तत्व कौन से हैं? ज्दानोव ने इन प्रश्नों का उत्तर देकर मार्क्सवादी दर्शन को और विकसित और समृद्ध करने का मार्ग दिखाया है—

'हमारे सोवियत समाज मे, जहाँ परस्पर विरोधी वर्ग खत्म कर दिये गये हैं, नये-पुराने के बीच सङ्घर्ष और इसलिए निम्न से उच्च की ओर विकास, विरोधी वर्गों के सङ्घर्ष के रूप मे और उलटफेर के रूप मे नहीं होता, बल्कि वह आलोचना और स्व-समालोचना के रूप मे होता है। हमारे विकास की यह मूल प्रेरक शक्ति है और पार्टी के हाथ में एक

शक्तिशाली अस्त्र है। निर्विवाद रूप से यह गति का एक नया पहलू, विकास का एक नया रूप, द्वन्द्ववाद का एक नया नियम है।'

दर्शन के क्षेत्र मे इस सिद्धान्त को लागू करने का मतलब है विश्व-पूँजीवाद की विचारधारा को खत्म करने के लिए अपने सैद्धान्तिक अस्त्र को पैना करना। जिस तरह राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र मे विश्व पूँजीवाद की ताकतो से समाजवाद और जनतन्त्र की शक्तियाँ लोहा ले रही हैं, उसी तरह विचार-क्षेत्र मे भी मार्क्सवाद और पूँजीवाद की विरोधी विचार-धाराओं का सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है। प्रतिक्रियावादी विचार-धाराएँ जितना ही समाज में घर करती हैं, विश्व-पूँजीवाद को भी अपनी जिन्दगी बढ़ाने का उतना ही मौका मिलता है। इसलिये ज्दानोव ने लिखा है—

'हमे खोये हुए समय को कमी जल्दी ही पूरी करनी है। समस्याएँ राह नहीं देखती। महान् स्वाधीनता-सग्राम मे समाजवाद की शानदार जीत, जो मार्क्सवाद की भी शानदार जीत थी, साम्राज्यवादियो के गले में हड्डी की तरह अटकी हुई है। मार्क्सवाद-विरोधी सङ्घर्ष का केन्द्र आज हटकर इगलैंड और अमरीका पहुँच गया है। प्रतिक्रियावाद और रूढ़ियो की तमाम ताकतें मार्क्सवाद से लड़ने के लिए जुटा दी गई हैं। रूढ़िवाद और पोपपथ के घिसे हुए हथियार फिर से पानी चढ़ाकर ऐटम-डालर जनतन्त्र द्वारा पूँजीवादी दर्शन का सेवा करने के लिए पेश कर दिये गये हैं। वैटिकन, नस्ल का सिद्धान्त, अध राष्ट्रवाद, खोखला आदर्शवादी दर्शन, पैसे के गुलाम अखबार और पतित पूँजावादो कला—सभी से काम लिया जा रहा है, लेकिन लगता है कि ये सब भी काफी नहा समझे गये। आज मार्क्सवाद से 'सैद्धान्तिक' सङ्घर्ष के नाम पर रिजर्व फौजें इकट्ठा की जा रही हैं। गुण्डे, दलाल, जासूस और दूसरे मुजरिमाना हरकत करने वाले लोग बटोरे जा रहे हैं।'

ज्दानोव ने एक फ्रासीसी पुस्तक 'चोर की डायरी' (लेखक—जाँ जेने) से उद्धरण देकर अपनी बात पुष्ट की है। एडिंगटन और आइन्स्टाइन

के सिद्धान्तों और ऐटम वैज्ञानिको के काण्टवाद आदि का रूप खुलासा करके बताया है कि वे पूँजीवादी विचारधारा के पोषक हैं।

ज्दानोव ने कहा है कि 'जनता की चेतना में, पूँजीवाद के अवशेषों पर, एक व्यापक हमला हो रहा है।' इसलिए दार्शनिको का कर्तव्य है कि वे सैद्धान्तिक मोर्चे के कार्यकर्ताओं में सबसे आगे हों। अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक पर विवाद और सोवियत सङ्घ में दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकों की खपत का हवाला देकर उन्होंने कहा कि उपर्युक्त काम पूरा किया जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य पर जो शाश्वतवादी यानी पूँजीवादी और सामन्ती विचार-धाराएँ छायी हुई हैं, उनसे सङ्घर्ष करने में खासतौर से यह भाषण मार्ग-दर्शन करेगा।

उर्दू-साहित्य की सांस्कृतिक परंपरा

हिन्दी-उर्दू की समस्या का एक पहलू उनके साहित्य की परपरा का भी है। हिन्दी और उर्दू एक भाषा है, या एक भाषा की दो शैलियाँ हैं, वे आगे चलकर मिलेंगी या उनमें से एक ही रह जायगी आदि मसलो को पेश करते हुए और उनका हल खोजते हुए इन दोनों की सास्कृतिक परपरा का सवाल भी उठाया जाता है।

उर्दू की साहित्यिक और सास्कृतिक परपरा क्या है? यह परपरा हिन्दी की साहित्यिक और सास्कृतिक परपरा से कहाँ तक अलग है? क्या दोनों की कोई सामान्य परपरा भी है जिसे आगे विकसित किया जा सकता है?

इन प्रश्नों का जवाब देने से हिन्दी-उर्दू की समस्या को सही तौर से पेश करने और उसे हल करने में सहायता मिलेगी।

(१)

उर्दू की सास्कृतिक परपरा के बारे में एक मत यह है कि वह विदेशी है, उसी की वजह से देश के बॅटवारे की नौबत आयी (या वह परपरा भी बॅटवारे का एक कारण है), इस परपरा से हिन्दी का कोई समझौता नहीं हो सकता और दरअसल उस परपरा को, चूँकि वह राष्ट्रद्रोही है, जल्दी से जल्दी खत्म कर देना चाहिए।

इस मत को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नये सभापति सेठ गोविन्द-दास ने बड़ी धूमधाम से पेश किया है। इसी मत को श्री राहुल साकृत्या-यन, श्री सपूर्णानन्द, श्री पुरुषोत्तमदास टडन आदि सज्जन भी पेश कर चुके हैं। सेठ गोविन्ददास ने उसे पेश करने मे धूमधाम के अलावा

किसी मौलिकता का परिचय नही दिया, इसलिए यहाँ पर श्री पुरुषोत्तम-दास टडन जी के शब्दो को उद्धृत करना ज्यादा अच्छा होगा, टडन जी सम्मेलन के प्राण हैं। सम्मेलन के सालाना सभापति जो मत प्रकट करते हैं, उनमे इन प्राणो की ध्वनि ही गूँजती रहती है।

सम्मेलन के ३५वें अधिवेशन मे टडनजी ने उर्दू की सास्कृतिक परपरा पर ये विचार प्रकट किये थे

'उर्दू कवियो की जो कविताएँ हुई, वे अरब और ईरान के तहजीब की प्रतीक थी। उर्दू कविताएँ हमे अपने नगर, अपने देश, अपने गली-कूचो की ओर ले जाने के बजाय, ईरान और अरब के नगर तथा गली-कूचो की ओर ले जाती हैं। उसकी सास्कृतिक परपरा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो सस्कृति है, उसके विपरीत है।

'उर्दू कवियो के रूपको में उर्दू कविता का सास्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनकी कविताओं मे यदि वीर की उपमा दी जाती है तो रुस्तम, सोहराब, अफ़रासियाब को याद किया जाता है, कहीं पर आपको भीम, अर्जुन आदि की उपमा नही मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हें अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती है। पर्वत की याद होती हैं तो उन्हें ईरान के पहाड़ों की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नही आती। फूलों में उनको 'नर्गिस' की याद आती है। पक्षियों मे उनको बुलबुल दिखायी पड़ता है, अपने देश के जो सुन्दर और अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नही करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ 'अश्वाँ' बन जायँ। 'अश्वाँ' ईरान का एक नगर है। सरूर जो कि लखनऊ का कवि था उसका एक शेर 'फसाना अजायब' मे यह है—'बुलबुले शीराज को है रश्क नासिख़ का शुरू। अश्वाँ इसने किये हैं, लखनऊ के कूचे और गलियाँ'। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सास्कृतिक का क्रम पृथक्वाद है और उसका परिणाम यह हुआ है कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ,

वैसे-वैसे सास्कृतिक पृथकता बढती गयी । जहाँ जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ-वहाँ पृथक्वाद का विशेष बल था, जैसे उत्तर-प्रदेश और पजाब में । . .'

'उर्दू वालों ने हमे एक रास्ता दिखाया, हिन्दू-मुसलमानों को अलग करने का । जो कुछ काग्रेस ने प्रयत्न करके बनाया था, उसे पृथकता की भावना ने तोड़-फोड दिया और हिन्दू और मुसलमानों के बीच मे एक नाला बना दिया । वह परपरा हमारे लिए जहर हो गयी, हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग फिरके हो गये ।'

'इस समय सामाजिक प्रश्न है, रोटी का प्रश्न है, परतु मुख्य प्रश्न है बल देने का , छोटे-मोटे और भी प्रश्न हैं । उनकी ओर ध्यान तो देना ही है, परतु एक समय होता है जब मुख्य प्रश्न सामने लाना पड़ता है । आज यह आवश्यक है कि आगे का जो भविष्य बनावे, उसमे यह स्पष्ट रक्खें कि हमारा जो सास्कृतिक श्रम होगा, वह एक होगा । मेरा निश्चित और स्पष्ट मत है कि उस परपरा को, जिसके कारण हमने भूल खायी, हम पिट गये और जिससे देश का विभाजन हुआ, समाप्त करना है ।' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पैंतिसवे अधिवेशन का विवरण, प्रयाग, पृ० ७६-८०)

यह सब कहने का सीधा मतलब यह है कि उर्दू की सास्कृतिक परपरा अलगाव पैदा करती रही है, इसलिए उसे खत्म कर देना चाहिए । आगे जब टडन जी कहते हैं कि 'मुझे उर्दू कविता अच्छी लगती है,' तब उनसे पूछा जा सकता है कि इस राष्ट्र विरोधी कविता के अच्छा लगने का पाप आप जैसे विशुद्ध भारतीयता-प्रेमी से कैसे हो गया । अगर उर्दू की सास्कृतिक परपरा हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालती है तो इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि ऐसी परपरा को खत्म कर देना चाहिए । ऐसी परपरा तो फूटपरस्तों को ही अच्छी लग सकती है ।

(२)

उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पहली चीज यह दिखाई देती है कि उर्दू की सास्कृतिक परपरा परिवर्तनशील रही है। जो परपरा जौक़ या दाग की थी, वही परपरा ज्यो की त्यो जोश या कृष्णचन्द्र की नहीं है। हमे देखना चाहिए कि यह परपरा पहले क्या थी और उसमें कौन-कौन-सी खास तब्दीलियाँ हुई हैं।

जिस तरह हम भारतेन्दु के पहले की हिन्दी कविता को मोटे तौर पर रीतिकालीन कविता कहते हैं, उसी तरह हाली के पहले की उर्दू कविता को मोटे तौर पर हम रीतिकालीन कविता कह सकते हैं।

इस जमाने की उर्दू कविता पर दरबारी सस्कृति की ज़बर्दस्त छाप है। उसके भावों और भाषा पर सामती सस्कृति की छाप है। यह सामती सस्कृति साहित्य में ईरानी साहित्य की परपरा को अपनाती थी। उसने ईरानी साहित्य में प्रचलित उपमाओ, रूपकों वगैरह को अपने साहित्य में सजाने की कोशिश की।

हर देश के रीतिकालीन साहित्य मे—उस समय के साहित्य मे जब उद्योगधधों के विकास से सामन्ती ढाँचा खत्म नहीं हुआ—बात कहने के ढङ्ग पर ज्यादा जोर दिया जाता है, भावों और विचारों की मौलिकता पर कम जोर दिया जाता है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता, बिहारी और देव की रचनाओं मे यह शैली हम देख सकते हैं। यही बात उर्दू की रीतिकालीन कविता पर भी लागू होती है।

आगे चलकर रीतिकालीन परपरा ज्यादा साथ नहीं देती। उसमें चाहे भीम और अर्जुन का गुणगान हो, चाहे सोहराब और अफ्रासियाब का, उस परपरा से नाता तोड़ना ही पड़ता है। हिन्दी की रीतिकालीन परपरा मे रामायण और महाभारत के वीरो की कमी नहीं थी, फिर भी खड़ी बोली के कवियों ने उस परपरा का जोरों से विरोध किया और

छायावादी कवियों ने उससे नाता तोड़कर एक नयी परपरा को जन्म दिया। उर्दू-साहित्य में भी उसकी रीतिकालीन परपरा एक निर्जीव परपरा हो गयी है। उर्दू-साहित्य उससे बहुत आगे बढ़ चुका है। रीतिकालीन परपरा का विरोध करने और उससे नाता तोड़ने पर खुद उर्दू के लेखकों और कवियों ने जोर दिया है।

जैसे हिन्दी में भारतेन्दु से पहले की सभी रीतिकालीन कविता ऐसी नहीं है, जिसे उठाकर रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया जाय। उसी तरह उर्दू की रीतिकालीन कविता में बहुत-सा हिस्सा सास्कृतिक परपरा का एक अग बनकर सुरक्षित रहेगा। उर्दू के बहुत से पुराने कवियों की ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ हैं जो अपनी उक्तिचातुरी की वजह से बार-बार उद्धृत की जाती हैं और अब उन्होंने बोलचाल में कहावतों की जगह ले ली है। मसलन्—

बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिल का
जो चीरा तो इक क़तरए ख़ूँ न निकला।

× × ×

ज़मीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या,
बदलता है रङ्ग आसमाँ कैसे-कैसे।

× × ×

न ज़ोरे सिकन्दर न है क़ब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे।

× × ×

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

× × ×

हज़रते दाग़ जहाँ बैठ गये बैठ गये
और होंगे तेरी महफ़िल से उभरनेवाले

इस तरह की पंक्तियाँ बोलचाल में इस तरह आती हैं कि उन्हें हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) बोलने वाली जनता की सांस्कृतिक परम्परा का एक अंग कहा जा सकता है।

हाली से पहले की उर्दू कविता की देन इतनी ही नहीं है। हाली से पहले भी बहुत से कवियों ने रीतिकालीन परम्परा से बँधे न रहकर अपना नया रास्ता बनाया था। इन कवियों में गालिब का नाम सबसे पहले आता है जिनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचनाओं पर इस तरह पड़ी है जिस तरह अपने व्यक्तित्व की छाप डालना किसी भी रीतिकालीन कवि के लिए मुमकिन नहीं है। ग़ालिब ने अपने जीवन के बारे में बड़े दर्द से लिखा है। इस तरह का दर्द दूसरों की रचनाओं की नकल करने से नहीं पैदा होता। इटली के महान् कवि दांते ने जिस तरह अपने जीवन की अपार वेदना अपने महाकाव्य में उँड़ेल दी थी, उसी तरह गालिब के शेर उस जमाने के वातावरण के प्रति क्षोभ, ग्लानि और वेदना में डूबे हुए हैं। ग़ालिब ने मानों रीतिकालीन परम्परा को चुनौती देते हुए लिखा है।

इश्क को दिल में जगह दे गालिब,
इल्म से शायरी नहीं होती।

गालिब के जमाने में बहुत से लोग इल्म की शायरी करते थे। वे फारसी साहित्य की उपमाएँ और रूपक लेकर अपनी रचनाओं को सँवारने की कोशिश करते थे। इन सब में फारसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी गालिब एक महान् प्रतिभाशाली कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

गालिब की पचीसों पंक्तियाँ साधारण बोलचाल में बराबर उद्धृत की जाती हैं। मिसाल के लिए—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन,
दिल के खुश करने को ग़ालिब य' खयाल अच्छा है।

× × ×

उनको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

× × ×

कर्ज की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हाँ,
रग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन।

× × ×

रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल,
जो आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

× × ×

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता तो खुदा होता,
डुबोया मुझको उन्होंने ने न होता मैं तो क्या होता।

× × ×

मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसाँ हो गयीं।

× × ×

दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।

× × ×

है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ,
वरना क्या बात करनी नहीं आती।

इत्यादि।

अनेक हिन्दी लेखको की रचनाओ में गालिब के शेर उद्धृत किये जाते हैं। उग्रजी की शायद ही कोई पुस्तक, शायद ही कोई लेख हो जिसमे ग़ालिब के शेर उद्धृत न किये गये हों। निरालाजी ने जहाँ-तहाँ

गालिब के शेर उद्धृत ही नहीं किये, उन पर 'प्रबन्ध पद्य' में लिखा भी है। गालिब की रचनाएँ किस तरह हिन्दी लेखकों की सांस्कृतिक परम्परा बन गयी हैं, इसकी एक मिसाल निरालाजी के जीवन में मिलती है। निरालाजी को अपने जीवन में जो मुसीबतें उठानी पड़ी हैं, जो अपमान सहने पड़े हैं और जिस तरह विरोधियों के मुकाबले में अपने आत्म-विश्वास को अडिग रखना पड़ा है, उससे ग़ालिब की रचनाओं से उन्हें एक आन्तरिक सहानुभूति पैदा हो गयी थी। मैंने उन्हें पचीसों बार इन पंक्तियों को गाते सुना है और आखिरी बार अभी पिछले साल बनारस में जब वह काफी अस्वस्थ थे, उन्हें फिर गालिब के शेर गुनगुनाते सुनकर काफी ताज्जुब भी हुआ कि इनके मन की दुनियाँ में और बहुत से उलट-फेर हुए, लेकिन ग़ालिब, रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास ये तीन महाकवि अपनी जगह अब भी कायम हैं।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमज़बाँ कोई न हो।
बे दरो दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये तो नौहाख्वाँ कोई न हो।

जब श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा को विदेशी और राष्ट्रविरोधी कहकर उस पर हमला करते हैं, तब हम यह सोचने पर मजबूर होते हैं कि हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा को 'निराला' की देन महान् है या श्री टंडन की देन महान् है। निराला की देन महान् है और इसीलिए महान् है कि उनके हृदय में वह संकीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं थी जिसका परिचय श्री टंडन ने बार-बार दिया है। संकीर्ण हृदय से महान् सांस्कृतिक परंपरा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

गालिब के बाद पुरानी उर्दू कविता के दूसरे महान् रचनाकार मीर हैं। मीर की बहुत सी रचनाओ में रीतिकालीन परम्परा से साफ नाता टूटा हुआ दिखाई देता है। कौन-सा रीतिकालीन कवि अपने घर का इस यथार्थ ढङ्ग से वर्णन करेगा—

लोनी लग लग के झड़ती है माटी,
आह क्या उम्र बेमजा काटी।
झाड़ बाँधा है मेह ने दिन-रात,
घर की दीवारें हैंगी जैसे पात।
बाउ में काँपते हैं जो थरथर,
उन पै रद्दा रखे कोई क्यों कर। इत्यादि।

मीर की भी अनेक पंक्तियाँ कहावतों का दर्जा पा चुकी हैं जैसे ये—

शाम से कुछ बुझा-सा रहता है,
दिल हुआ है चिराग़ मुफलिस का।

हाली से पहले जिन लोगों ने रीतिकालीन परंपरा से नाता तोड़ा, उनमें नज़ीर का नाम महत्वपूर्ण है। नज़ीर के काव्य मे लोक गीतों, कहावतों और लोक-संस्कृति को जो स्थान दिया गया है, उससे आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। नज़ीर जनता के कवि थे उन्होंने आम जनता की जिंदगी के बारे में बड़ी सजीव रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा के बारे मे श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है :

'इनकी भाषा देशी थी और उसे विलायती बनाने का कभी इन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इनका चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और फारसी तथा अरबी के कोषो से चुन-चुनकर अपनी भाषा को लद्दू बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जैसा विषय चुना, वैसी ही भाषा ली और वैसे ही वास्तविकता से उसका चित्रण भी कर डाला।'

(उर्दू साहित्य का इतिहास, बनारस, सं० १९९१, पृ० १८२)

नज़ीर की बहुत-सी रचनाओं पर सूफ़ीपन का रंग है। दरअसल उनकी कविता की जड़ें उस ज़माने के समाज में दूर तक चली गयी थीं। वह आदर्शवादी कवियों की तरह गरीबी का गुणगान नहीं करते बल्कि इंसान की उन मुसीबतों का बयान करते हैं जो गरीबी के सबब से उस पर आती हैं।

लिखा है—

जब आदमी के हाल पै आती है मुफलिसी,
किस-किस तरह से उसको सताती है मुफलिसी
प्यासा तमाम रोज बिठाती है मुफलिसी
भूखा तमाम रात सुलाती है मुफलिसी,
ये दुख वो जाने जिस पै कि आती है मुफलिसी।

इत्यादि।

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश के अन्दर नयी राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किस तरह देशभक्तिपूर्ण कविताओं की परम्परा चलायी, इसे सभी लोग जानते हैं। उस समय की राष्ट्रीय चेतना पर पुनरुत्थानवाद का भी रंग चढ़ा हुआ था। भारतेन्दु बाबू ने आर्य जाति के प्राचीन गौरव के गीत गाये। हाली ने मुसलमानों के बीते वैभव के स्वप्न देखे। फिर भी हाली और भारतेन्दु—दोनों ने ही यह अनुभव कर लिया था कि देश की उन्नति हिन्दू मुसलमानों के मेल से और उनकी मिली-जुली राष्ट्रीय चेतना से ही हो सकती है। हाली ने देश पर लिखा था—

ऐ वतन ऐ मेरे बहिश्ते बरीं
क्या हुए तेरे आसमाँ और जमीं
रात और दिन का वो समाँ न रहा
वो जमाँ और वो आसमाँ न रहा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर लिखा था—

तुम अगर चाहते हो मुल्क की खैर,
न किसी हम वतन को समझो गैर।
हं मुसल्माँ इसमे या हिन्दू
बौद्ध मजहब हो कि या ब्राह्मो,
सबको मीठी निगाह से देखो।
समझो आँखो की पुतलियाँ सबको।
हिन्द में इत्तफाक होता अगर
खाते गैरो की ठोकरें क्योंकर?

इत्यादि।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल मे जैसे सामाजिक कुरीतियो पर बहुत-सी रचनाएँ की गयीं, उसी तरह उर्दू साहित्य में भी समाज-सुधार पर बहुत-सी चोजें लिखी गयीं। बीसवा सदी में आकर साहित्य का मतलब मुख्य रूप से कविता नहीं रहता, उसके दूसरे रूप कहानी, उपन्यास, आलोचना वगैरह भी फलने-फूलने लगते हैं। इस नये जमाने का हिन्दी-उर्दू साहित्य और भी नजदीकी सास्कृतिक परम्पराएँ बनाता हुआ चलता है।

हिन्दी उपन्यासो मे देवकी नन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासो के बाद हम प्रेमचन्द के सामाजिक समस्याओ वाले उपन्यासों तक पहुँचते हैं। उर्दू में प० रतननाथ सरशार के फिसान-ए-आजाद से आगे बढते हुए हम फिर प्रेमचन्द तक पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने हिन्दी से पहले उर्दू में लिखना शुरू किया था। उर्दू और हिन्दी मे उन्होंने ही सामाजिक समस्याओ वाले उपन्यासो की नाव डाली। प्रेमचन्द में हिन्दी-उर्दू की सास्कृतिक परम्पराओ का मिल कर एक होना साहित्य की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। उससे जाहिर होता है कि सास्कृतिक परम्परा की जड़ें सामती साहित्य के ज्यादा मौजूदा सामाजिक जिन्दगी में धँसी होती हैं। प्रेमचन्द

के जमाने में एक नयी परम्परा गढी जा रही थी जिसके तत्व इस्लाम या हिन्दू-धर्म से न लिये जाकर देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो से, समाज की नयी प्रगति से, वर्गों के नये सम्बन्ध से लिये जा रहे थे। प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू मे जो एक नयी परम्परा डाली, वह गुणात्मक रूप से (qualitatively) साहित्य की पुरानी परम्परा से भिन्न थी। वह दाग, जौक, बिहारी, पद्माकर की परम्परा से ही भिन्न न थी, वह हाली और भारतेन्दु की परम्परा से भी काफी अलग थी। प्रेमचन्द साहित्य के विकास की वह मजिल थे जो अपने मे सुधारवादी राष्ट्रीयता खत्म करके नये प्रगतिशील साहित्य की तरफ इशारा करती है।

प्रेमचन्द एक नयी परम्परा को इसलिये जन्म दे सके कि हमारे समाज में नये परिवर्तन हो रहे थे, उसमें नयी आशाएँ नये उद्देश्य लेकर नये आन्दोलन चल रहे थे।

हिन्दी-उर्दू साहित्य में प्रेमचन्द की नराम्परा इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि सस्कृति रचने का काम मनुष्य का सामाजिक जीवन करता है। यह सामाजिक जीवन बदलता रहता है, इसलिए सस्कृति की धारा भी बदलती रहती है। सामाजिक जीवन के मुकाबले में धर्म-सम्प्राय मत-मतान्तरों के सस्कार बहुत ही कमज़ोर साबित होते हैं, और सस्कृति पर उनका असर कम से कम होता जाता है।

प्रेमचन्द खुद इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि सामन्त-काल की सास्कृतिक परम्परा खत्म हो रही है और नये जमाने की एक नयी परम्परा कायम हो रही है। वे जानते थे कि दोनों के उद्देश्य, दोनो के साहित्यिक रूप, दोनों के सौन्दर्य-सम्बन्धी मानदण्ड अलग-अलग हैं।

पुरानी साहित्यिक परम्परा के बारे में उन्होंने लिखा था :—

'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मन-माने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसान-ए अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों

का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति······।

'क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी··· । ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।

'कला का नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्द योजना का, भावनिबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनियाँ से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य वही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में वह सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे।'

(लखनऊ प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये भाषण से)

इस परम्परा को प्रेमचन्द खत्म कर रहे थे। उन्होंने साफ माँग की थी कि साहित्य के पुराने मानदण्डों को बदला जाय। उन्होंने कहा था :

'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था ···· उसका निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी उनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिए।'

(उप०)

प्रेमचन्द का हर शब्द उनके सच्चे जनवादी हृदय से निकला है जो समाज के नये विकास के लिए, साहित्य की परम्परा बदलने के लिए जोर से ललकारता है।

उन्होने साहित्य की नयी परम्परा के बारे में लिखा था :

'परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मनबहलाव की चाज नही है, मनोरजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के सयोग वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओ पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नो से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की यह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावो और विचारो में गति पैदा करता है।'

(३५०)

इससे जाहिर है कि प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू साहित्य मे एक नयी परपरा के पिता हैं। सास्कृतिक दृष्टि से यह परपरा हिन्दी-उर्दू साहित्य को एक करती है। और उनकी सबसे सबल और गतिशील परपरा भी है। आज प्रेमचन्द के शब्द हमारा विश्वास दृढ़ करते हैं कि यह अत्याचारी समाज-व्यवस्था खत्म होगी और हमारा साहित्य उसे खत्म करने का एक साधन बनेगा। हम उनके इन शब्दो को वर्ग के साथ याद कर सकते हैं :—

'हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारो आदमी कुछ अत्याचारियो की गुलामी करें तभी हम केवल कागज के पृष्ठो पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगी, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरजन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-

भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है ।

'यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने का जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनियाँ बना कर उसमे रोता और हँसता हो तो इस दुनियाँ में उसके लिए जगह न होने मे कोई अन्याय नहीं है ।'

(उप०)

प्रेमचन्द के ये प्रभावशाली शब्द—उनके हृदय के ये सच्चे उद्गार बताते हैं कि साहित्य की जो परंपरा धार्मिक अन्धविश्वासों, साम्प्रदायिक विद्वेष और भेदभाव, सामन्ती रूढियों और प्राचीनतावाद को अपना आधार बनाती है, वह खत्म हो जाती है। साहित्य की वह परंपरा जो समाज के गतिशील जीवन को, उसके क्रांतिकारी वर्ग को, जनता के सङ्घर्ष को, अपना आधार बनाती है, वह जीवित रहती और वहीं परंपरा जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू में इसी परंपरा को जन्म दिया था।

कुछ लोगों के मन मे शंका पैदा हो सकती है कि प्रेमचन्द ने तो यह सब काम हिन्दी मे किया था, उसका जिक्र उर्दू साहित्य के सिलसिले मे क्यो किया जा रहा है ? ऐसे पाठको की सेवा में प्रेमचन्द के ये शब्द अर्पित हैं :

'मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता।'

(प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ० १६१)

हिन्दी-उर्दू के लिखने वालों का सामाजिक वातावरण आम तौर से एक-सा रहा है, इसलिये उनकी साहित्यिक परम्परा के उतार-चढ़ाव, उसके मोड़ और नयी दिशा में प्रवाह भी मिलते-जुलते रहे हैं। हिन्दी

मे रीतिकालीन परम्परा का विरोध किया गया। उर्दू में भी उस परम्परा का विरोध किया गया। हिन्दी मे राष्ट्रीय कविता का युग आया, चकबस्त और इक़बाल यह युग उर्दू कविता मे भी लाये।

हिन्दी-कविता में छायावाद के नाम से नयी रोमाटिक कविता का युग आया। इस तरह की रोमाटिक कविता का युग उर्दू में भी आया।

गुलजार में कोयल की सदा गूँज रही है,
कोहसार में पुरशोर हवा गूँज रही है,
कुलकुल से जुनूँख़ेज फजा गूँज रही है,
मैदान में घनघोर घटा गूँज रही है,
बरसात है, बरसात है, बरसात है,
बरसात !

छायावादी कविता के उत्तरकाल में जैसे हिन्दी के कुछ कवियों ने निराशा, ऊब और अकेलेपन के गीत गाये, वैसे ही उर्दू में—

शहर की रात और मैं नाशाद ओ नाकारा फिरूँ,
जगमगाती जागती सड़कों पै आवारा फिरूँ,
ग़ैर की बस्ती है कब तक दरबदर मारा फिरूँ,
ऐ गमे दिल क्या करूँ ऐ वहशते दिल क्या करूँ,
यह रूपहली छाँव यह आकाश पर तारों का जाल,
जैसे सूफी का तसव्वर, जैसे आशिक़ का ख़्याल,
आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ ऐ वहशते दिल क्या करूँ।

हिन्दी में जैसे कुछ कवियों ने प्राचीनतावाद को ऐसा साधन बनाया है कि साहित्य का पानी उतर जाय, उसी तरह उर्दू में भी अलगाव और फूट पैदा करने वाले, इस्लाम से उर्दू का नाता जोड़ने वाले, मुसलमानों

को अलग जाति और उर्दू को अरब और इरान की संस्कृति से मिलाने वाले शायर भी हुए हैं। लेकिन उनकी वजह से उर्दू-साहित्य को साम्प्रदायिक समझना उतनी ही बड़ी अक्लमंदी होगी, जितनी किप्लिंग की वजह से अंग्रेजी साहित्य को साम्राज्यवादी समझना।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का कहना है कि उर्दूवाले राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन वगैरह का नाम लेना अपनी संस्कृति के खिलाफ समझते हैं। अगर ऐसा है तो नजीर ने 'कन्हैया का बालापन' क्यों लिखा? और लिखा तो ऐसों को जाति-बाहर क्यों नहीं कर दिया गया? नजीर ने लिखा है :

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन,
मोहन स्वरूप नृत्य करैया का बालपन,
बन-बन के ग्वाल गौएँ चरैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

नजीर ने दिवाली पर लिखा था :

हर इक मकान में जला फिर दिया दिवाली का,
हर इक तरफ को उजाला हुआ दिवाली का,
सभी के दिल में समा भा गया दिवाली का,
किसी के दिल को मजा खुश लगा दिवाली का,
अजब बहार का है दिन बना दिवाली का।

होली पर दूसरे सुर-ताल में लिखा था :

जब फागुन रंग झमकते हों तब देख बहारें होली की,
और डफ के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की।

नये युग के कवियों में साग़र निज़ामी ने कृष्ण के बाँसुरी बजाने इत्यादि पर लिखा है :

अय गोपाल झूमकर बन्सरी बजाओ फिर।
बन्सरी के कैफ़ से दिल को गुदगुदाओ फिर,
प्रेम और प्रीति को, रीति को जगाओ फिर,

× × ×

खुद ही तुम कमल बनो, खुद ही मुस्कराओ फिर,
बूयेगुल के रूप मे, सबके पास जाओ फिर,
बन्सरी बजाओ फिर दो जहाँ पै छाओ फिर,
अय गोपाल झूमकर बन्सरी बजाओ फिर।

यहाँ पर अकबर इलाहाबादी का जिक्र करना उचित होगा, जिनके ढेरों शेर अनेक हिन्दी लेखको की रचनाओं में उद्धृत किये हुए मिलेंगे। उनके बहुत से शेर कहावतो का दर्जा पा गये हैं :

खींचो न कमानो को न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

× × ×

क़ौम के ग़म मे डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।

अकबर की नजर अक्सर धार्मिक आस्था और पुरानी तहजीब पर रहती है। वह अंग्रेजियत के खिलाफ हैं लेकिन उसके बदले एक नयी जनवादी संस्कृति का नक्शा उनके सामने नहीं है। उनके जमाने की सीमाएँ भी थीं। फिर भी प्राचीनतावादियो पर कैसा व्यंग्य किया है :

पेट मसरूफ है किलर्की मे
दिल है ईरान और टर्की में।

प्राचीनतावाद और कट्टरतावाद के खिलाफ बहुत से उर्दू कवियों ने लिखा है। यही सबब है कि वह अपने यहाँ एक जनवादी और प्रगतिशील परम्परा कायम कर सके हैं।

मुस्लिम प्राचीनतावादियों पर व्यंग्य करते हुए जोश ने लिखा है :

आ ही नहीं सकता मेरे मुँह लालाए बुजदिल (यानी बुजदिल लाला मेरी बराबरी नहीं कर सकता)

मैं पाक, वो नापाक, मैं गोरा हूँ, वो काला,
क्या उसका मेरा जिक्र, वो देशी मैं विदेशी,
मैं मिस्र की मस्जिद वो बनारस का शिवाला,
गंगा की हर इक लहर मे गल्तीदा है पस्ती,
दजले की हर एक मौज मे रक्सॉ है हिमाला ।

(प्राचीनतावादी मौलाना फर्माते हैं कि गंगा की लहरो मे पस्ती है और दजला की मौजो में हिमालय का नज्जारा है ।) जोश ने लिखा है कि शैतान मौलवी को यों फँसा लेता है :

यही कह कह के राह करता है गुम
कि खुदा के हो खानदान से तुम ।

प्राचीनतावाद के विरोध के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उर्दू कवियों ने बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं ।

इकबाल ने लिखा था—

आ गैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें
बिछुड़ो को फिर मिला दें, नक्शे दुई मिटा दें ।
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ एक नया शिवाला, इस देश मे बसा दें ।
दुनिया के तीरथो मे ऊँचा हो अपना तीरथ,
दामाने आसमाँ मे उसका कलस मिला दें ।
हर सुबह उठके गाये मंतर वो मीठे-मीठे,
सारे पुजारियों को मय पीत की पिला दें ।
शक्ती भी शान्ति भी भक्तो के गीत में है
धरती के बासियो की मुक्ती पिरीत में है ।

यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू-मुस्लिम एकता की अडिग और पक्की नींव जनतंत्र ही है, भावुकता के आधार पर कायम की हुई एकता सिर्फ ईश्वर अल्ला का नाम लेकर कायम की हुई एकता टिकाऊ नहीं हो सकती। बहुत कांग्रेसी नेता एकता का दम भरते थे, आज वह प्राचीनतावाद और हिन्दू सम्प्रदायवाद के भक्त नजर आते हैं। कारण यह है कि किसान-मजदूरों के आन्दोलन का विरोध करके, उनके सङ्घर्ष को अपने लिए काल समझकर कोई भी एकता का हिमायती नही हो सकता। उसे एकता अपने लिए एक खतरा मालूम पड़ने लगती है। इक़बाल भी इस एकता को छोड़कर सम्प्रदायवाद की तरफ झुक गये थे।

उर्दू मे अँग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ बहुत काफी और बहुत जोरदार कविताएँ लिखी गयी हैं। इन पर एक नजर डालने से ही जाहिर हो जाता है कि यह आरोप कितना झूठा है कि उर्दू के कवियो को अपने देश से प्रेम नही है। जोश ने खास तौर से साम्राज्य विरोधी आन्दोलन पर बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं।

लंदन मे बादशाह सलामत के राजगद्दी पाने पर जोश ने हिन्दुस्तान के बारे मे लिखा था :—

'किश्वरे हिन्दोस्ताँ मे रात को हंगामे ख्वाब,
करवटें रह-रह के लेता है फजा मे इनकलाब,
गर्म है सोजे बग़ावत से जवानों का दिमाग,
आँधियाँ आने को हैं ऐ बादशाही के चिराग़,

× × ×

आपके ऐवान मे रक्साँ हैं लपटें ऊद की,
हिन्दियो की साँस से आती है बू बारूद की।

साम्राज्यविरोधी आन्दोलन पर जोश ने लिखा था :—

क्या हिन्द का जिन्दाँ काँप रहा है गूँज रही हैं तकबीरें
उकताए हैं शायद कुछ कैदी और तोड़ रहे हैं जंजीरें

× × ×

क्या उनको खबर थी, ओठों पर जो कुफ्ल लगाया करते थे,
एक रोज इसी खामोशी से टपकेंगी दहकती तकरीरें,
सॅभलो कि वो जिन्दाँ गूँज उठा, झपटो कि वो कैदी छूट गये,
उट्ठो कि वो बैठी दीवारें, दौड़ो कि वो टूटी जंजीरें।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के फर्जन्दों से कहा था :—

इक कहानी वक्त लिक्खेगा नये मजमून की
जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।

जोश का साम्राज्यविरोध १५ अगस्त सन् ४७ के बाद गुमराह हो गया है। आजकल वह 'आजकल' के संपादक हैं। वह उन लोगों में हैं जो अपनी जनता का साथ छोड़ कर उस दल के साथ जा मिले हैं जो हिन्दुस्तान को साम्राज्यवादी खेमे के साथ बाँधे हुए है। ऐसे ही लोगों में श्रीसुमित्रानन्दन पंत वगैरह हैं जो अपने साम्राज्यविरोध को 'आजाद' हिन्दुस्तान मे जिंदा नहीं रख पाये।

इस तरह हिंदी और उर्दू के कुछ कवियो की गुमराहियाँ भी अपनी एक मिली-जुली परंपरा रखती हैं।

(४)

उर्दू पर यह दोष लगाया जाता है कि उसमें फारसी की दस-पाँच बहरें ही काम मे लायी जाती हैं और हिन्दी के हजारों छंदो के भंडार को अछूता छोड़ दिया गया है।

यहाँ पर पहले तो यह याद रखना चाहिए कि उर्दू की बहरें अब सिर्फ उर्दू तक सीमित नहीं रहीं। हिन्दी में बहुत से कवियों ने उन्हें अपना लिया है और उनमें बेरोक रचनाएँ करते हैं। इस तरह की

रचनाएँ वे कवि भी करते हैं, जो प्राचीनतावाद के उपासक हैं, जैसे—दिनकर।

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुँआँ-सा,
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है,
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है।

इसके अलावा फारसी की बहरों और हिन्दी के छंदों में उतना फर्क नहीं है जितना कुछ लोग समझते हैं। श्री हरिशङ्कर शर्मा ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में (पृ० १६ पर) लिखा है—'उर्दू में इस्तेमाल होने वाले कुछ छंदो के नाम ये हैं—सुमेरु, विधाता, विहारी, शास्त्र, पीयूषवर्षा, भुजङ्गप्रयात, खरारी, हरिगीतिका, आनन्दवर्द्धक, दिग्पाल, भुजङ्गी, चौपाई आदि।' इससे यह तो जाहिर ही होता है कि छंदों के लिहाज से हिन्दी-उर्दू की सांस्कृतिक परंपराओं के बीच मे कोई गहरी न पट सकने वाली खाई नहीं है।

छायावादी कवियों ने—खास कर निराला जी ने—जिस तरह मुक्त-छंद लिखने की प्रथा डाली थी, उसी तरह उर्दू में बहुत से कवियो ने भी मुक्तछंद मे रचनाएँ की हैं। लेकिन जो चीज हिन्दी-उर्दू कवियों को सबसे ज्यादा नजदीक लाती है, वह उनके गीत हैं। उर्दू कवि एक अर्से से गीत लिखते आये हैं। प्रगतिशील कवियों ने जो गीत लिखे हैं, वे रोमांटिक गीतों के तंग दायरे से निकलकर आम जनता के गले में रम चुके हैं। ऐसे गीत, एक-दो नहीं, सैकड़ो हैं। उर्दू-साहित्य का यह पहलू उसका सबसे लोकप्रिय और जनवादी रूप हमारे सामने लाता है। इन गीतों की सांस्कृतिक परंपरा एक ऐसी शक्तिशाली और प्रगतिशील परंपरा है जो हिन्दी-उर्दू के बाकी भेद-भाव को दूर करने मे बहुत बड़ी मदद करेगी। इन गीतों को देखने से पता चलता है कि जब हम जनता के सङ्घर्ष, उसकी मुसीबतों, आशाओ और आदर्शों को लेकर साहित्य रचते

हैं, तब प्राचीनवाद के तमाम अलगाव पैदा करने वाले रूप आप से आप खत्म हो जाते हैं। हमारे जनता की सस्कृति एक है। हमारा साहित्य जितना ही जनता के नजदीक आता है, उतना ही उसकी सास्कृतिक परपरा प्राचीनता से मुँह मोड़ कर अपने लिए मौजूदा जमाने से तत्व चुनती है। जनता की यह सबल सास्कृतिक परपरा पुराने जमाने की सस्कृति से सिर्फ वे चीजें लेती है जो उसमे धार्मिक अधविश्वास और भेद-भाव पैदा करने के बदले उसे एकता, आजादी और जनतत्र के नजदीक ले जाती हैं और जनवादी भावनाओ को मजबूत करती हैं।

उर्दू के कवियो ने हमारे जन-आन्दोलन को जो गीत दिये हैं, उनमें मखदूम मुहीउद्दीन का गीत—'यह जग है जगे आजादी आजादी के पर-चम के तले' मजदूरवर्ग का अपना गीत है। बगाल के अकाल पर वामिक का यह गीत लोकप्रिय हो चुका है।

पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला दुख का जाल,
दुख की अगनी कौन बुझाये सूख गये सब ताल,
जिन हाथों ने मोती रोले आज वही कगाल,
रे साथी आज वही कगाल!

भूखा है बंगाल!
भूखा है बगाल रे साथी, भूखा है बगाल!

इसी तरह मजाज का गीत 'बोल अरी ओ धरती बोल, राजसिंहासन डाँवाडोल,' अली सर्दार जाफरी के कई गीत, प्रेम धवन का 'अरे अब भागो लन्दन जाओ' उर्दू में एक ऐसी परपरा की नींव डाल चुके हैं जिसे हम हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली परपरा कह सकते हैं।

आधुनिक उर्दू-कविता उन तमाम रूपको और कल्पनाओ से पीछा छुड़ा चुकी है जिन्हें श्री रघुपति सहाय फिराक ने 'सदा बहार और सदा सोहाग' कहा था। उन्होंने भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी-साहित्य

के तमाम विकास पर जो बुहारी फेर दी थी, उससे हिन्दी को उर्दू के नजदीक लाने मे मदद न मिल सकती थी। इसके अलावा हिन्दी के तमाम विकास पर कीचड़ उछालने के बाद उन्होने आदर्श रूप से जो शेर पेश किये थे और पुराने रूपको के शाश्वत सौदर्य की जो व्याख्या की थी, वह एक प्रतिक्रियावादी काम था, जिसका विरोध करना जरूरी था। पुराने रूपको और प्राचीनतावाद का विरोध जिस तरह उर्दू के नये कवियो ने—खास तौर से प्रगतिशील कवियों ने—किया है, उसके लिए उनकी जितनी तारीफ की जाय, थोड़ी है। इस सिलसिले मे सिब्ते हसन का लेख विशेष ध्यान देने योग्य है जिसमे उन्होंने इकबाल की जनतत्र विरोधी धारणाओ की आलोचना की थी। यह लेख 'नया अदब' में छपा था (जब 'नया अदब' लखनऊ से निकलता था)। जिस तरह हिन्दी की प्रगतिशील कविता पर वह तोहमत लगायी जाती है कि उसने प्राचीन सस्कृति से नाता तोड लिया है, वह छिछली राजनीतिक और प्रचारात्मक हो गयी है वगैरह, उसी तरह उर्दू की प्रगतिशील कविता पर भी आरोप लगाये जाते रहे हैं। इनका जवाब देते हुए एहतेशाम हुसेन ने बहुत कुछ लिखा है और उन्होंने उर्दू मे नयी तरह की आलोचना को आगे बढाया है। उर्दू की आलोचना, उसके नाटक, कहानियाँ, उपन्यास आज उसी तरह नये रास्ते पर चल रहे हैं जिस तरह हिन्दी-साहित्य के ये रूप। उपन्यासो और कहानियों का सम्बन्ध अवाम की जिन्दगी से होता है, इसलिए इनमें प्राचीन रूपको, अलङ्कारो वगैरह का असर नहीं के बराबर होता है। हिन्दी के बहुत से पाठक 'हस' में कृष्णचन्द्र की कहानियाँ, स्केच पढ़ चुके होगे। खास तौर से रुद्रदत्त भारद्वाज पर उनका स्केच, तीन गुडे नाम की कहानी यह जाहिर करती है कि उर्दू-साहित्य मौजूदा जिन्दगी से अपनी विषय-वस्तु चुनकर एक मिली-जुली जनवादी परपरा गढ रहा है।

उर्दू की नयी कविता में पुरानी व्यवस्था का विरोध और जनतत्र की

तरफ बढने की ख्वाहिश पग पग पर मिलती है। उर्दू कविता में देश-विदेश की महत्त्वपूर्ण घटनाओ, जन-आन्दोलनो की गहरी छाप है। रूस पर हिटलरी हमला, लाल फौज का वीरतापूर्ण सग्राम, बर्लिन की जीत, हिन्दुस्तान मे क्रिप्समिशन का आना, देश का बँटवारा, साम्प्रदायिक दगे, गाँधी जी की हत्या, 'आजाद' हिन्दुस्तान मे जनता के आन्दोलनों पर दमन, नये जन सघर्ष, इन सभी की तस्वीरे उर्दू कविता मे मिलेंगी। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू की सास्कृतिक परपरा को आज वही घटना-क्रम, वही सामाजिक परिस्थितियाँ, वही जन-सङ्घर्ष रच रहे हैं जो हिन्दी की सास्कृतिक परपरा रच रहे हैं।

यह देखना मुश्किल नहीं है कि जौक और दाग की परम्परा से आज की उर्दू कविता की परम्परा बिल्कुल बदल गयी है। आज का कवि सरमाया-दारी को देखकर कहता है .

यह अपने हाथ मे तहजीब का फानूस लेती है।
मगर मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है।

× × ×

मुबारक दोस्तो लबरेज है अब इसका पैमाना,
उठाओ आँधियों, कमजोर है बुनियाद का शाना।

आज का कवि पूँजीवादी नेताशाही के बारे मे यो लिखता है —

यह किससे फर्याद कर रही हो ?
यह किसको आवाज दे रही हो ?
तुम अपने जख्मो की राखियाँ लेके,
किसकी महफिल को जा रही हो ?
तुम्हारे ये राहबर नहीं हैं,
तुम्हारे ये दादगर नहीं हैं,
ये काठ की पुतलियाँ हैं जिनको,

सियासी पर्दो के पीछे बैठे हुए मदारी
सफेद रेशम की डोरियो पर नचा रहे हैं।
ये साम्राजी बिसाते शतरञ्ज के प्यादे हैं जिनको शातिर
हजारों चालो से शाहो फर्जी बना-बनाकर चला रहे हैं।

आज का उर्दू-कवि पूँजीवादी शोषण को देखकर पुकार उठता है :—

नफाखोरों की निगाहो में लचकती तलवार,
बढते जाते हैं शबोरोज ये सारे आसार,
कि इलाज इसका बगावत के सिवा कुछ भी नहीं।

इस तरह की सैकड़ो कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक वगैरह उर्दू में लिखे गये हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दुस्तान से है, हिन्दुस्तान की जनता से है, दुनियाँ के जनवादी मोर्चे से है। वे दिन बीत गये, जब दरबारी शायर अफीम खाते हुए, सदा बहार, सदा सोहाग रूपको पर निछावर होते रहते थे। उर्दू ने अपने लिए एक शानदार परपरा बना ली है जिस पर उर्दू लेखक गर्व कर सकते हैं। इस परपरा के तत्व वही हैं जो हिन्दी साहित्य की परपरा के हैं। श्री पुरुषोत्तमदास टडन, श्री राहुल साकृत्यायन, श्री गोविन्ददास का इस परम्परा के बारे में क्या खयाल है? वे इसके बारे में चुप क्यों रहते हैं?

भाषा और सस्कृति को लेकर द्वेष भाव बढाने की नीति उन लोगों की नीति है जो जनता को गुलाम बना कर रखते हैं, जो इस तरह जनता को शिक्षा और सस्कृति के साधनो से दूर रखते हैं और इसलिए जो भाषा और सस्कृति के सबसे बड़े दुश्मन हैं। इसीलिए हिन्दी लेखको और पाठकों को इनसे सावधान रहना चाहिए। इनकी स्वार्थी राजनीति और सास्कृतिक वस्त्रो में लपेटे हुए उनके जहरीले हथियारों का रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उनके लिए हर चीज जो बढ़ते हुए

जन-आन्दोलनों में फूट डालती है, एक वरदान है। उनके लिए हर चीज जो जन-आन्दोलनों को मजबूत करके आगे बढाती है एक शाप है। इसलिए हिन्दू-उर्दू लेखकों के लिए यह लाजमी हो जाता है कि वे एक दूसरे की जनवादी परम्परा को और नजदीक से जानें-पहचानें और इन प्रतिक्रियावादी फूट-परस्तों का मिलकर मुकाबला करें। इसमें सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है कि प्रगतिशील लेखक इनकी चालों को विफल कर देंगे और अपने साहित्य की जनवादी परम्परा को ऐसे शानदार ढङ्ग से विकसित करेंगे कि उस पर हमीं नहीं, तमाम हिन्दुस्तान के लोगों को गर्व होगा।

मार्च १९४९

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार

आम तौर से, लेनिन की विचारधारा को समझने के लिए, लेनिन की रचनाओं के अलावा, स्तालिन की दो प्रसिद्ध पुस्तके 'लेनिनवाद की समस्या' और 'सोवियत सङ्घ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' पढना जरूरी है। खास तौर से, जो लोग साहित्य और सस्कृत पर लेनिन के विचारो को जानना चाहते हैं, उन्हें भी लेनिन की रचनाओं के अलावा इन दो प्रसिद्ध पुस्तकों को पढना चाहिये।

साहित्य और सस्कृति पर लेनिन के विचार राजनीति या अर्थशास्त्र पर उनके विचारों से अलग नहीं हैं बल्कि उनसे अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दो में, साहित्य और सस्कृति पर लेनिन के विचार लेनिनवाद का एक अटूट हिस्सा है। जिस तरह साम्राज्यवाद के पतन-काल और जन-क्रान्तियो के युग मे लेनिनवाद दुनियाँ के तमाम मेहनत-कश मजदूरो का पैना, परखा हुआ और अचूक अस्त्र है, उसी तरह उन तमाम लेखकों के लिए जो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के हाथो बिक नहीं गये, साहित्य और सस्कृति पर लेनिन के विचार एक जलती हुई मशाल हैं जो, उन्हें लड़ाकू शोषित वर्गों के साथ-साथ सङ्घर्ष, विजय और नये निर्माण का रास्ता दिखाते हैं।

साहित्य और सस्कृति पर लेनिन के विचारों का अध्ययन—या मार्क्स, एंगेल्स, स्तालिन के विचारो का अध्ययन—दो-चार लेखको पर उनकी राय पढकर नहीं किया जा सकता।

साहित्य और सस्कृति पर लेनिन के विचारो तक पहुँचने के लिए उनके महान् ग्रन्थो के अलावा कोई और छोटी पगडण्डी नहीं है। इसलिए बेलिन्स्की, चर्निशीवस्क, हर्जन, तोल्स्तोय आदि लेखकों पर

लेनिन के लेख और सम्मतियाँ पढने के साथ साथ उनकी दूसरी पुस्तकें भी पढनी चाहिये जिनका सीधा सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति से नहीं है।

इस लेख का उद्देश्य यह है कि हम संक्षेप में लेनिन के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से, उनकी आलोचना के तरीके से और सोवियत क्रान्ति के पहले और उसके बाद के साहित्य की समस्याओं पर उनके बताये हुए हल से परिचित हों। इसके अलावा इस लेख का उद्देश्य हिन्दी पाठको और खास कर हिन्दी लेखको का ध्यान लेनिन की उन रचनाओं की तरफ खींचना है जो हमारे साहित्य और संस्कृति के विकास में सही रास्ता दिखा सकती हैं।

(१)

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार मार्क्सवाद की बुनियाद पर कायम किये गये हैं। लेनिन ने मार्क्सवाद को अपनाया ही नहीं बल्कि सामाजिक विकास की नयी हालतों में उसे और भरापूरा भी बनाया है। मार्क्सवाद को भरापूरा बनाने के लिए लेनिन ने सबसे पहले सुधारवादी विचार-धारा से मार्क्सवाद की रक्षा की है।

लेनिन ने यह काम शुरू की रचनाओ से लेकर बाद तक की रचनाओं में किया है। 'जनता के दोस्त कौन हैं'—इस किताब में उन्होंने १९वीं सदी के उन सुधारवादियों का पर्दाफाश किया है जो अपने को मार्क्सवादी कहते थे लेकिन वर्ग-सङ्घर्ष की धारणा से अपरिचित थे। जो यह नहीं जानते थे कि पूँजीवादी समाज में विरोधों का होना लाजमी है और जो यह नहीं जानते थे कि मजदूर-वर्ग को एक क्रान्तिकारी भूमिका पूरी करनी है। लेनिन ने याद दिलाया कि मार्क्स अपने सिद्धान्तो को स्वभाव से ही आलोचनात्मक और क्रान्तिकारी समझते थे।

यहाँ पर आलोचनात्मक शब्द के साथ लेनिन का एक फुटनोट है।

फुटनोट मे लेनिन ने आलोचनात्मक शब्द की व्याख्या की है। मार्क्स का मतलब किस तरह की आलोचना से था जिसे वह अपने सिद्धान्तो की विशेषता समझते थे ?

लेनिन ने लिखा है .

'यह बात नोट करनी चाहिये कि मार्क्स ने यहाँ भौतिकवादी आलोचना की बात कही है। इस तरह की आलोचना को ही वह वैज्ञानिक आलोचना मानते थे। यह आलोचना राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक और दूसरी बातों की तुलना अर्थनीति से, पैदावार के सम्बन्धो के ढाँचे से, उन वर्गो के हितो से करती है जो लाजमी तौर से सभी विरोधी सामाजिक सम्बन्धो से पैदा हो जाते हैं।'

(मार्क्स, एंगेल्स, मार्क्सिज्म, अ० स० पृ० ६६)

अपने फुटनोट मे भौतिकवादी आलोचना की यह साफ-सुथरी व्याख्या करके लेनिन ने उन तमाम लोगो का मार्ग-प्रदर्शन किया है जिनका काम अर्थशास्त्र पर सीधे न लिखकर 'राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक और दूसरी बातो' (यानी साहित्य और संस्कृति पर) लिखना होता है। लेनिन की व्याख्या से यह बात साफ हो जाती है कि साहित्य का मार्क्सवादी आलोचक वही बन सकता है जो साहित्य के भावो, विचारो और रूपों को उन वर्गों के हितों के साथ मिलाकर परखे जो लाजमी तौर से सामाजिक विरोधों के कारण पैदा होते हैं।

यहाँ पर कुछ लोग कहेंगे कि समाज मे वर्गों का होना कैसे साबित होता है ? जारशाही रूस मे ऐसे लोग मौजूद थे जो वर्गों और उनके आपसी विरोध से इन्कार करते थे।

'नौजवान सभाओं के कर्तव्य' नाम के भाषण मे लेनिन ने वर्गों की बहुत सीधी-सादी व्याख्या की है :—'वर्ग वे हैं जिनसे समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से की मेहनत हड़प लेता है।'

(उप० पृ० ४६२)

समाज मे जब तक एक हिस्से की मेहनत को दूसरा हिस्सा हड़पता जायगा, तब तक समाज मे वर्ग भी कायम रहेंगे और उनका विरोध भी बना रहेगा। इस तरह के समाज के लिए मार्क्सवाद का महत्त्व किस बात मे है ? क्या मार्क्सवाद मेहनत को हड़पने और वर्गों को खत्म करने का रास्ता दिखाता है ?

लेनिन ने मार्क्सवाद की विशेषता यह बताई है कि—

'यह थ्योरी आधुनिक समाज मे विरोध और शोषण के तमाम रूपों को सीधे-सीधे जाहिर करना शुरू करती है, वह पता लगाती है कि उनका विकास कैसे-कैसे हुआ है, वह बताती है कि वे क्षणभगुर क्यों हैं, दूसरे रूपो में उनका बदलना लाजमी क्यो है, और इस तरह वह सर्वहारा वर्ग की मदद करती है कि वह जितनी जल्दी और जितनी आसानी से हो सके, सभी तरह के शोषण को ख़त्म कर दे।' (उप० पृष्ठ ६६)

लेनिन के ये शब्द मार्क्सवाद की आम व्याख्या ही नहीं करते, वे ख़ास तौर से मार्क्सवादी साहित्य और मार्क्सवादी आलोचना की व्याख्या भी करते हैं।

मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य मार्क्सवाद के अनुकूल ही हो सकता है। अगर मार्क्सवादी का उद्देश्य समाज के विरोधा और रूपों को जाहिर करना है, तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य उन्हें मूँद-ढाँक कर रखना नहीं हो सकता।

अगर मार्क्सवाद का उद्देश्य यह बताना है कि समाज के ये विरोध और शोषण के रूप किस तरह पैदा हुए हैं, उनका बदलना लाजमी है, शाश्वत और अमर नहीं है, तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य भी यह नहीं हो सकता कि वह पूँजीवादी समाज के सम्बन्धो को शाश्वत और अमर कह कर पेश करे।

अगर मार्क्सवाद का उद्देश्य है कि वह सभी तरह का शोषण खत्म करने मे सर्वहारा वर्ग की मदद करे तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य

यह नही हो सकता कि वह सर्वहारावर्ग के इस काम मे सहायता न करे, उसमे बाधा डाले या तटस्थ बना रहने की कोशिश करे।

सुधारवादियो का विरोध करते हुए लेनिन ने मार्क्सवाद की जो व्याख्या की है, उसी से साहित्य और संस्कृति के बारे में उनकी तमाम धारणाएँ स्वाभाविक रूप से फूटती और पल्लवित होती हैं।

(२)

मार्क्सवाद की ऊपर दी हुई व्याख्या से यह धारणा स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है कि वर्ग-युक्त समाज का साहित्य कभी भी वर्गहितों, वर्ग-विरोध और सामाजिक असङ्गतियो से परे नहीं हो सकता। या तो वह शासकवर्ग का हित साधने वाला साहित्य होगा, या शोषित वर्ग के हितों को प्रकट करेगा। अगर वर्ग-भेद धुँधला हुआ, वर्ग-सङ्घर्ष तीखा न हुआ, समाज के दो वर्ग मुहो-मुँह आख़िरी लड़ाई के लिए तैयार दिखाई न दिये तो साहित्य में सामाजिक विकास की ये सीमाएँ, वर्गों के परस्पर सम्बन्ध का धुँधलापन भी उसमें जाहिर होगा।

अनेक रूसी लेखको पर लेनिन ने जो आलोचनाएँ लिखी हैं या उन पर राय जाहिर की है, उनका महत्त्व सबसे ज्यादा इस बात मे है कि वे साहित्य के वर्ग-आधार को प्रकट करती हैं।

'काउट हेडन की स्मृति मे' नाम के लेख मे लेनिन ने दिखाया है कि वर्ग-हितों से परे मानवतावाद का स्वाँग भरने वाली शिक्षा और संस्कृति का किस तरह पर्दाफाश करना चाहिए।

हेडन एक क्रान्तिविरोधी 'शिक्षित' और 'संस्कृत' जमींदार था। रूस के सुधारवादी नेता उसकी शिक्षा और संस्कृति पर निछावर हो-हो जाते थे। उसकी मृत्यु पर आठ-आठ आँसू बहाते हुए उन्होने शोकपूर्ण लेख लिखे। उन्होने मानवतावाद के नाम पर जनता से यह छिपाया कि हेडन हमेशा जमींदारो के वर्गहितो की रक्षा करता रहा था और वह क्रान्तिविरोधियों का साथी था।

हेडन ने उस प्रतिक्रियावादी पार्टी की नीव डाली थी जो जार के मन्त्री स्तोलीपिन के काले कारनामो का समर्थन करती थी। वह विधान बनाने मे भी दिलचस्पी दिखाता था और इससे पूँजीवादी लेखक यह नतीजा निकालते थे कि वह भी आजादी और जनतन्त्र चाहता है और इसलिए विधान बनाने मे दिलचस्पी दिखाता है।

लेनिन ने बताया कि विधान से उसकी दिलचस्पी सिर्फ इतनी है कि जनता को लूटने का ढङ्ग और नफीस बनाया जाय। लेनिन ने तुर्गनेव की कहानी का हवाला देकर बताया कि हेडन की मानवतावादी सस्कृति उस जमींदार की-सी है जो अपने खादिम को खुद न पीट कर उसे दूसरो से पिटवाता है।

लेनिन ने चुभते व्यग्य के जरिये जमीदारों की मानवतावादी सस्कृति की बखिया उधेड़ दी। उनका यह लेख इस बात की मिसाल है कि प्रतिक्रियावादी वर्गों के 'मानवतावाद' और उनकी सस्कृति के छिपे हुए तत्व को किस तरह प्रकट करना चाहिए।

लेनिन की रचनाओ मे अक्सर उदारपथी पूँजीवादियो का जिक्र आता है। ये उदारपथी पूँजीवादी कौन थे? उदारपथी पूँजीवादी वे पूँजीवादी थे जो ऊपर से जारशाही का विरोध करते थे, लेकिन जनता की क्रान्तिकारी मुहीम से जिनकी रूह काँपती थी।

लेनिन ने जार के खिलाफ जनवादी क्रान्ति मे मजदूर वर्ग की अगुवाई का नारा लगाया था और यह कहा था कि उदारपथी पूँजीपति वर्ग को कोने में धकिया देना चाहिए। लेनिन ने इस बात का ध्यान रखा था कि जनता इन उदारपथी पूँजीवादियो के भुलावे मे न आये, बल्कि मजदूर वर्ग की अगुवाई मे जारशाही का खात्मा करके सीधे समाजवादी क्रान्ति की तरफ बढे। अपनी राजनीतिक रचनाओ मे लेनिन ने उदारपथी पूँजीवादियो की नीति का हमेशा पर्दाफाश किया। साहित्य और सस्कृति के मैदान मे भी उन्होंने इनका असर खत्म करने में कुछ उठा नहीं रखा।

१६०५ की रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन ने तोलस्तोय पर एक लेख लिखा। इसमे उन्होने दो तरह से पत्रकारों का जिक्र किया—एक तो सरकारी हुक्म की तामील करने वाले भाडे के टट्टू थे और दूसरे उदारपथी पूँजीवादी। इन दोनो की तुल . करते हुए उन्होंने लिखा :—

'इन भाड़े के टट्टुओ को अच्छा भाडा मिलता है, इस बात को सभी लोग जानते हैं और वे किसी की आँखो मे धूल नहीं झोक सकते। लेकिन उदारपथियो की धूर्तता ज्यादा चतुराई लिये हुए है और इसलिए वह ज्यादा हानिकर और खतरनाक है।'

इसके बाद लेनिन ने इनकी धूर्तता की मिसाल दी है और बताया है कि वे अचानक तोल्स्तोय के साहित्य से क्यो प्रेम करने लगे हैं।

'रेच अखबार के कैडेट पथी लेखक बलालाइकिन जैसे लोगो के लेख पढिये तो मालूम होगा कि उनका हृदय तोल्स्तोय के लिए घोर सहानुभूति से ओत-प्रोत है। वास्तव में यह सोच-विचार कर रची हुई प्रशंसा और वक्तृता का शब्दजाल—कि तोलस्तोय ईश्वर का एक महान् अन्वेषक था बिलकुल झूठ है। रूसी उदारपथी कों न तो तोलस्तोय के ईश्वर में विश्वास है और न उसे उस नुक्ताचीनी से कोई हमदर्दी है जो तोलस्तोय ने उस समय की समाज-व्यवस्था की की थी। अपनी राजनीतिक पूँजी चढाने के लिए उदारपथी भी एक लोकप्रिय न । की माला जपने लगता है। इस तरह वह देश की विद्रोही शक्तियो के नेता का पार्ट अदा करने पर तुल जाता है।'

यहाँ पर लेनिन ने आलोचना-साहित्य पर सीधा मार्क्सवाद का प्रकाश डाला है। पचीसों पूँजीवादी लेखक तोलस्तोय की तारीफ के पुल बाँधने मे लगे थे। तोल्स्तोय ने समाज की जो आलोचना की थी उसे वे गोल कर जाते थे, उनके धार्मिक अंधविश्वासों वाले हिस्से को वे ले उड़ते थे। उनकी इस एकांगी आलोचना का कारण अज्ञान नहीं था, बल्कि उनका छिपा हुआ वर्ग-स्वार्थ था। लेनिन ने दिखाया कि वे तोल्स्तोय की

तारीफ के पुल इसलिए बाँध रहे हैं कि एक लोकप्रिय नाम के सहारे जनता की आँखों से अपना स्वार्थी रूप छिपा लें और क्रान्तिकारी आवाज के उठाने को वर्ग-सहयोग की तरफ मोड़कर पूँजीवादी शोषण कायम रखें।

लेनिन ने यह एक मिसाल पेश की है कि पूँजीवादी लेखकों और पत्रकारों के साहित्य-प्रेम की असलियत किस तरह जाहिर करनी चाहिये।

हर्जन पर अपने लेख के शुरू में लेनिन ने उदारपंथी पूँजीवादियों की फिर खबर ली है। उन्होंने दिखाया है कि पूँजीवादी अखबार हर्जन की जोरों से तारीफ करने लगे हैं, लेकिन वे इस बात की पूरी कोशिश कर रहे हैं कि उसका क्रान्तिकारी पहलू जनता के सामने न आने पावे।

लेनिन ने इस प्रशंसात्मक आलोचना का भंडाफोड़ किया और हर्जन के विचारों की सीमाएँ प्रकट करते हुए उनके क्रान्तिकारी पहलू पर प्रकाश डाला। उन्होंने आलोचना की कसौटी इस बात को बनाया कि मजदूर वर्ग के सङ्घर्ष के लिए हर्जन की कौन-सी बातें उस सङ्घर्ष में रुकावट डालती हैं।

लेनिन ने साहित्य को इस वर्ग-कसौटी पर परखा, इसलिए उनकी आलोचना तीर की तरह निशाने पर बैठी। उनकी बातें लगी-लिपटी न होकर साफ-सुथरी और साहित्य पर मार्क्सवाद की तेज रोशनी डालने वाली हुईं।

लेनिन ने हर्जन की प्रशंसा से सन्तोष नहीं किया। उन्होंने यह भी बताया कि १८४८ के बाद हर्जन घोर निराशावाद में डूब गया और उसके विचारों की नाव जैसे बिना पतवार के हो गई। लेनिन ने इसका कारण बताया। हर्जन को समाजवाद के बारे में कुछ पूँजीवादी भ्रान्तियाँ थीं। पूँजीवादी जनतन्त्र के क्रान्तिकारीपन से हर्जन का विश्वास उठ गया था, लेकिन उस समय तक समाजवादी मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारीपन परिपक्व न हुआ था। हर्जन के निराशावाद का यह ऐतिहासिक कारण था।

लेनिन ने दिखाया कि पूँजीवादी लेखक इस ऐतिहासिक कारण पर

पर्दा डाल रहे हैं। वे हर्जन के निराशावाद और सन्देहवाद की तारीफ़ करके खुद अपने क्रान्तिविरोधी रूप को छिपा रहे हैं। लेनिन की निगाह से हर्जन के प्रशसको का क्रातिविरोधी वर्ग-स्वार्थ छिपा नही रहता, वह उसे उघार कर जनता के सामने पेश कर देते हैं। उन्होने उदारपन्थी पूँजीवादियों के लिए लिखा है कि ये वे वीर हैं जिन्होंने १६०५ की क्रान्ति से गद्दारी की थी। इनका उदारपथ वह घृणित और पाशविक वस्तु है जिसने १८४८ मे मजदूरों को गोलियो से भून डाला था, गिरते हुए तख्तताजो को फिर बहाल किया था और तीसरे नैपोलियन की बिरुदावली गाई थी।

हर्जन अपने निराशावाद की मजिल पार कर मार्क्स के बनाये हुए मजदूरों के क्रान्तिकारी सगठन इटरनैशनल की तरफ बढ़ रहा था। उदारपथी पूँजीवादी निराशावाद का बखान करके मजदूरो को क्रान्ति की राह से मोड़ने की कोशिश कर रहे थे। इन उदारपथियो के लिए लेनिन के शब्द क्रोध और घृणा मे डूबे हुए हैं। लेनिन ने वह 'सज्जनोचित' शैली न सीखी थी जिससे मजदूर वर्ग को गुमराह करने वालो के साथ वह मेल मुलाहजे का बर्ताव करते।

इसी तरह तोल्स्तोय पर लिखते हुए लेनिन ने उनके साहित्य की असगतियो पर प्रकाश डाला और दिखाया कि ये असङ्गतियाँ सामाजिक विकास की असङ्गतियों का ही नतीजा हैं। 'रूसी क्रान्ति के दर्पण तोल्स्तोय'—नाम के लेख मे लेनिन ने इस बात की एक अनुपम मिसाल दी है कि पिछले जमाने के साहित्यिको का मूल्याकन किस तरह करना चाहिये। तोल्स्तोय को सीधा प्रगतिशील लेखक कह देना काफी नहीं है, क्योकि हम उन्हे 'देहाती जमींदार के रूप मे भी पाते हैं जो ईसामसीह के पीछे पागल बना घूमता है । उसे खुले आम अपनी छाती पीटते हुए और चिल्लाते हुए देखते हैं कि 'मै पतित हूँ, मै नीच हूँ, लेकिन मैं

अपना नैतिक धरातल ऊँचा कर रहा हूँ, मैंने गोश्त खाना बिल्कुल छोड़ दिया है और सिर्फ चावल पर ही दिन गुजारता हूँ।'

इसके साथ ही तोलस्तोय को प्रतिक्रियावादी या दकियानूसी लेखक कहकर भी नहीं टाला जा सकता क्योंकि 'वह एक अद्भुत कलाकार के रूप मे हमारे सामने आते हैं जिनमे हम सामाजिक झूठ और दगाबाजी के खिलाफ बहुत ही सीधा, ईमानदार और शक्तिशाली विरोध पाते हैं। तोलस्तोय ने पूँजीवादी शोषण की खरी आलोचना की है, कचहरियो और सरकारी शासनतन्त्र के स्वाँग की खिल्ली उड़ाई है और बड़ी गहराई से वह अन्तर्विरोध दिखाया है जो कि बढती हुई गरीबी और अमीरी के बीच पैदा हो गया है।'

इस तरह लेनिन ने बहुत साफ-साफ तोलस्तोय के साहित्य की असङ्गतियो को पेश कर दिया है। लेनिन से पहले किसी ने साहित्य-समालोचना में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को यो लागू न किया था। सामाजिक विकास की असङ्गतियो के साथ साहित्य का नाता जोड़ कर उसकी भीतरी असङ्गतियों की सही और विस्तृत व्याख्या करते हुए लेनिन ने जो फुटनोट लिखा था, उसकी सबसे अच्छी मिसाल यहाँ उन्होने खुद ही दी है।

लेनिन ने तोलस्तोय को रूसी क्राति का दर्पण इसलिए कहा था कि उनका साहित्य रूसी क्रान्ति की खूबियों और खामियों का ही दर्पण था। जिन सामाजिक असङ्गतियो को तोलस्तोय का साहित्य प्रतिबिंबित करता था, वे इस प्रकार थीं,

'एक तरफ तो सदियो के सामन्ती अत्याचार और सुधार के बाद वर्षों तक की बढती हुई गरीबी की वजह से किसानो में बेहद गुस्सा और घृणा पैदा हो गई थी और वे कटने-मरने पर तुल गये थे।

'दूसरी तरफ—अपनी अजादी पाने के लिए किस लड़ाई की जरूरत है, इस लड़ाई मे कौन-सा वर्ग उनका नेतृत्व कर सकता है, पूँजीवादी लोगो और पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का रवैया किसान-क्राति के हितो की

तरफ क्या है, जार की सरकार को अपनी ताकत से उलटना जमीदारी प्रभुत्व को खत्म करने के लिए क्यो जरूरी है, इन सब बातो के बारे में उनकी चेतना बहुत धुँधली थी।'

साहित्य और समाज की इन असङ्गतियों को दिखाना क्यो जरूरी था? अगर लेनिन तोलस्तोय के यथार्थवाद और उनकी खींची हुई तस्वीरो के सौन्दर्य की तारीफ करके खामोश रह जाते तो मार्क्सवादी आलोचना क्यो न पूरी होती?

वह इसलिए पूरी न होती कि मजदूर वर्ग को तोलस्तोय पथ से जो सबक लेना था, उसे वे न ले पाते। लेख के अन्त मे लेनिन ने बढते हुए वर्ग-भेद का जिक्र किया है। उन्होने बताया है कि दल और पार्टियो की रूप रेखा स्पष्ट हो गई है। जनता के ढुलमुलपन, उसके आलस और उदासीनता को करारी चोट लगी है।

इस तरह दूसरी सफल क्रान्ति की जमीन तैयार हो रही थी। ऐसे वक्त मे मार्क्सवादियो का क्या कर्तव्य था? वे अपना कर्तव्य यों निबाह रहे थे :—'क्रान्तिकारी सोशल डिमौक्रैट लगातार और डट कर प्रचार कर रहे हैं।'

जाहिर है कि लेनिन की आलोचना इस प्रचार के बाहर न हो सकती थी बल्कि वह दिखलाती थी कि १६०५ की रूसी क्रान्ति से सबक लेकर—साहित्य में तोलस्तोय की असङ्गतियो को समझ कर—मजदूरवर्ग को सभी तरह का शोषण खत्म करने में कैसे मदद दी जाती है।

लेनिन का विश्वास था कि 'इन बातों का नतीजा यह होगा कि समाजवादी मजदूरों मे से ही नहीं, बल्कि लाखो जनवादी किसानो के बीच से भी ऐसे लड़ाकू पैदा होंगे जो इस्पात की तरह मजबूत होंगे और तोलस्तोय-पथ के गड्ढे में फिर कभी नहीं गिरेंगे।'

तोलस्तोय की असगतियों को दिखाना इसलिए जरूरी था कि लोग

तोलस्तोय पथ के गड्ढे में न गिरें बल्कि इस्पात की तरह मजबूत होकर पूँजीवादी शोषण को खत्म कर दें।

तोल्स्तोय पर लेनिन का यह लेख इस बात की मिसाल है कि मजदूर-वर्ग के हितो की कसौटी पर पुराने साहित्य को किस तरह परखना चाहिये।

(३)

काउट हेडन पर लिखते हुए लेनिन ने हेडन की शिक्षा और सस्कृति का वर्गरूप ही नहीं प्रकट किया बल्कि उन बुद्धिजीवियो का वर्गरूप भी जाहिर कर दिया जो मानवतावाद के नाम पर हेडन की सराहना करते थे। लेनिन ने बताया कि मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी अपनी बीच की स्थिति को एक सिद्धान्त का रूप दे देते हैं। ऐसे बुद्धिजीवियों को उन्होने जमीदारों से भी ज्यादा खतरनाक बताया।

जमींदारों के मुँह से मानवतावाद का नाम सुनकर लोग चकमे मे न आ सकते थे लेकिन ये बुद्धिजीवी तो कला के नाम पर मानवतावाद की प्रशसा करते थे। लेनिन ने इनकी कला और साहित्य-रचना को व्यभिचार का नाम दिया। उन्होंने बहुत ही कड़े शब्दो मे इन बुद्धिजीवियो की निन्दा की जिससे इस बार में शक न रह जाय कि वर्गो से परे रहने वाले बुद्धिजीवी दरअसल शासकवर्ग के ही साथ हैं।

लेनिन ने मध्यवर्गी बुद्धिजीवियों के ढुलमुलपन, उनके टुटपुँजियापन, धूर्तता, और क्रान्तिविरोध का बार-बार पर्दाफाश किया था। वे उन बुद्धिजीवियों का महत्त्व अच्छी तरह समझते थे जो मजदूर वर्ग का साथ देते थे। वे उन बुद्धिजीवियो से जनता को हमेशा आगाह करते रहते थे जो वर्गों से परे होने का ढोग रचकर पूँजीवाद की हिमायत करते थे। 'जनता के दोस्त कौन हैं' में उन्होने बताया था कि पूँजीवादी बुद्धिजीवी अपने वर्ग का हित साधने मे लगे हैं और अब उनके वर्गरूप में कोई शक नही हो सकता है। (उप० पृ० ८८)

'क्या करें ?' में उन्होने उन बुद्धिजीवियो को सोशलिस्ट इटेलीजेंशिया

कहा जिन्होंने मार्क्सवादी विचारो का प्रचार किया था।

(उप० पृ० १२६)

अक्तूबर क्राति के बाद बुद्धिजीवियो की भूमिका के बारे में उन्होंने लिखा है—'अगर पूँजीवादी बुद्धिजोवी रूसी और विदेशी पूँजीपतियों को बहाल करने के लिए अपने ज्ञान का इस्तेमाल न करते बल्कि मेहनतकशों की मदद में उसे लगाते तो क्रान्ति की रफ्तार और ज्यादा तेज और शान्तिपूर्ण होती। लेकिन यह तो कल्पनालोक की बात है क्योकि इस सवाल का फैसला वर्गों के परस्पर सङ्घर्ष से होता है और अधिकाश बुद्धिजीवी पूँजीवादी वर्ग की तरफ खिंच जाते हैं।' (उप० पृ० ४१२)

इस तरह लेनिन ने बुद्धिजीवियो के वर्ग-रूप के बारे मे जो बात क्रान्ति से पहले कही थी, वह क्रान्ति के अनुभव से पूरी उतरी।

इससे साबित हुआ कि बुद्धिजीवियो का चिन्तन उनकी विचारधारा, उनकी रचनाएँ वर्गों से परे नही होती। लेनिन ने बार-बार इस धारणा का खण्डन किया कि वर्ग-भेद वाले समाज मे साहित्य, कला, विज्ञान या दर्शन वर्गों से परे हो सकते हैं।

मार्क्सवाद का सामना होते ही पूँजीवादी विज्ञान क्यो घृणा और क्रोध प्रकट करने लगता है, इसका जिक्र करते हुए लेनिन ने लिखा था कि ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है क्यो कि 'ऐसे समाज मे, जिसका आधार वर्ग-सङ्घर्ष हो, कोई भी 'निष्पक्ष' सामाजिक विज्ञान नही हो सकता। किसी न किसी रूप में तमाम सरकारी और उदारपथी विज्ञान मजदूरी वाली गुलामी का समर्थन करता है जब कि मार्क्सवाद ने उसके खिलाफ जिहाद बोल रखा है।' (पृ० ७०)

मार्क्सवाद मजदूरवर्ग का दर्शन है, इसलिए लेनिन ने मार्क्स और एगेल्स के लिए लिखा है कि वे दर्शन शास्त्र मे पार्टीजन थे यानी एक वर्ग विशेष के समर्थक थे। इससे लेनिन का प्रसिद्ध साहित्य सबन्धी उसूल यह निकलता है कि साहित्य का पार्टीजन होना चाहिये। 'पार्टी

सगठन और पार्टी साहित्य' नाम के लेख मे लेनिन ने मॉग की कि मजदूर वर्ग का अपना पार्टीजन साहित्य हो। श्रम और पूँजी की लडाई मे साहित्य गैर पार्टीजन हो सकता है, इस धारणा का उन्होने जोरो से विरोध किया।

साहित्य के पार्टीजन होने का क्या मतलब है? लेनिन ने बताया कि साहित्य को सर्वहारा उद्देश्य का एक अङ्ग होना चाहिये। पूँजी की गुलामी या मजदूर वर्ग के साथ सङ्घर्ष, विजय और निर्माण,—इनके अलावा साहित्य के लिए तीसरा रास्ता नही है। लेनिन ने कहा कि इस पुराने रूसी सिद्धान्त का अन्त कर देना चाहिये कि लेखक लिखता रहता है, पाठक पढता रहता है। इसके बदले—'सगठित समाजवादी मजदूरवर्ग को इन सब कामो की तरफ ध्यान देना चाहिये, उसमें बिना अपवाद के जीवित सर्वहारा-उद्देश्य की भावना फूँक देनी चाहिये।'

इन शब्दो से प्रकट होता है कि लेनिन मजदूरवर्ग के सङ्घर्ष और विजय के लिए साहित्य को कितना महत्त्वपूर्ण समझते थे। उनकी मॉग थी कि रूसी साहित्य जिन सामन्ती बन्धनों से छुटकारा पा चुका है, उनके बाद वह पूँजो के बन्धनों मे जकडा न रहे। पूँजी की गुलामी करने वाले प्रेस के बदले उन्होने आजाद प्रेस कायम करने की मॉग की जो पूँजीवादी अराजकता से मुक्त हो और जिसमे पैसा कमाऊ सिद्धान्तहीन लेखको के लिये गुजाइश न हो।

पार्टीजन साहित्य के ख़िलाफ पूँजीवादी लेखको की दलीलें लेनिन ने पहले ही पेश कर दीं। वे कहते हैं—'साहित्य रचना जैसी सूक्ष्म और व्यक्तिगत चीज पर तुम सामूहिकता का शासन लाद रहे हो! तुम चाहते हो कि विज्ञान, दर्शन और सौन्दर्य शास्त्र के सवाल मजदूर वोट दे कर हल करें! तुम व्यक्ति द्वारा निर्द्वन्द्व साहित्य-सृष्टि का विरोध करते हो!'

लेनिन ने इन बुद्धिजीवियो से कहा कि तुम्हें पूँजीवादी समाज मे निर्द्वन्द्व साहित्य-सृष्टि की जो आजादी मिली है, उसे हम जानते हैं।

अपनी तीखी व्यग्यपूर्ण शैली में लेनिन ने लिखा · 'श्रीमान् पूँजीवादी बुद्धिजीवियो, हम आपको बता दे कि आपकी निर्द्वन्द्व स्वाधीनता की बातें धूर्तता के अलावा और कुछ नहीं हैं। ऐसे समाज मे, जो पैसे के बल पर टिका हो, जहाँ मजदूर गरीब और बदहाल हों, और मुट्ठी भर अमीर कामचोरी मे दिन गुजारते हों, कोई वास्तविक और सच्ची 'स्वाधीनता' नही हो सकती। श्रीमान् लेखक, क्या आप अपने पूँजीवादी प्रकाशक से आजाद हैं?'

लेनिन ने बताया कि समाज में रह कर कोई भी लेखक समाज से आजाद नहीं रह सकता। इसलिए पूँजीवादी लेखक की आजादी दर‍असल थैलीशाह की गुलामी होती है। इस पूँजीवादी लेखकों की आजादी का पर्दाफाश करना हर मार्क्सवादी लेखक का कर्तव्य होता है। लेनिन ने लिखा :

'हम समाजवादी इस पाखड का भडाफोड़ करते हैं। हम उनके कुल साइनबोर्ड उतार कर फेंक देते हैं। हम ऐसा इसलिए नहीं करते कि वर्ग-हीन साहित्य रचा जाय (वर्गहीन साहित्य तो सोशलिष्ट समाज मे ही सभव होगा)। हम ऐसा इसलिए करते हैं कि उनके मुकाबले मे एक दरअसल आजाद साहित्य रचा जाय जो पूँजीवाद की चाकरी करने वाले ढोगी आजाद साहित्य के बदले खुल्लम-खुल्ला मजदूर वर्ग का साथ देने का दम भरता हो। ऐसा साहित्य आजाद होगा क्योंकि उसके रचने वाले पैसे के लोभी या ऊँची जगह पाने के उम्मीदवार न होगे। उसके रचने वालों मे दिन पर दिन ऐसे नये लोग आयेंगे जिन्हे समाजवाद और मजदूरवर्ग से हमदर्दी होगी। यह साहित्य आजाद होगा क्यो कि वह जीवन से ऊबी हुई नायिकाओ का मनोरजन करने के लिए न होगा, वह उन अमीरो के मनबहलाव की सामग्री न होगा जो अपने मोटापे से परेशान हैं। वह उन लाखों-करोड़ों मजदूरो के लिए रचा जायगा जो देश के सच्चे सपूत हैं, जो उसकी शक्ति हैं, जो उसका भविष्य हैं। वह

ऐसा आजाद साहित्य होगा जिसमे मनुष्य जाति के नये से नये क्रान्तिकारी विचार समाजवादी मजदूरवर्ग के सजीव कार्यों और अनुभवो से मिलकर फूलें-फलेंगे। उसके अन्दर पिछले जमाने का अनुभव (जिस तरह अपने आदिम काल्पनिक रूपों से विकसित होते हुए वैज्ञानिक समाजवाद ने सोशलिज्म का विकास पूरा किया है) आज के अनुभव (मजदूर साथियो के मौजूदा सङ्घर्ष) से बराबर घुलता-मिलता रहेगा।'

पूँजीवादी लेखकों की दलीलों का खडन करते हुए लेनिन ने यह बात सूर्य की तरह प्रकाशित कर दी कि मजदूरवर्ग का साथ देने वाला, सङ्घर्ष, विजय और निर्माण मे उसके साथ बढने वाला, ऊँचे वर्गों के बदले कामकाजी अवाम की सेवा करने वाला साहित्य ही सही अर्थ में आजाद हो सकता है।

लेनिन ने पूँजीवादी साहित्य और संस्कृति का खोखलापन दिखाया और बताया कि साहित्य को नये ढङ्ग से सँवारने का काम, उसे सजीव ढङ्ग से विकसित करने, विषय वस्तु और रूपो मे उसे समृद्ध करने का काम मजदूरवर्ग के साथ अभिन्नरूप से जुड़े हुए लेखक ही कर सकते हैं।

लेनिन ने साहित्य मे नये प्रयोग, नयी प्रेरणाओ या नयी कल्पनाओ का विरोध नहीं किया। उन्होंने कहा कि—'इस क्षेत्र मे व्यक्तिगत प्रेरणा, व्यक्तिगत रुचि, विचार और कल्पना की उड़ान, विषयवस्तु और रूपो में ज्यादा से ज्यादा स्वाधीनता मिलनी चाहिये।'

लेकिन यह सब एक व्यापक सर्वहारा उद्देश्य के अन्तर्गत ही हो सकता था। सर्वहारा उद्देश्य का साथ छोड़ने पर कल्पना की उडान पूँजीपतियो के खरीदे हुए साहित्य मे ही दम लेती है।

पार्टी-सगठन और पार्टी-साहित्य पर लेनिन का लेख तमाम मार्क्सवादी लेखकों के लिए एक घोषणापत्र के समान है जो उन्हे पूँजीवादी साहित्य की असलियत से परिचित कराता है और उन्हे समाजवादी साहित्य रचने का मार्ग दिखाता है।

ऊपर लेनिन ने वर्ग और साहित्य के सम्बन्ध पर जो कुछ कहा है, उससे यह नतीजा साफ निकलता है कि साहित्य गैर-राजनीतिक और सिद्धान्तहीन नही हो सकता। मार्क्सवाद मे शुद्ध साहित्य, शुद्ध कला या शुद्ध रस की गुञ्जाइश नहीं हो सकती। सोवियत लेखक जौश्चेंको और आख्मातोवा की रचनाओ का खडन करते हुए ज्दानोव ने लेनिन की इस धारणा पर खास जोर दिया था कि साहित्य गैर राजनीतिक और सिद्धात-हीन नहीं हो सकता।

सर्वहारा उद्देश्य के अन्तर्गत जो साहित्य रचा जायगा, उसका पुराने साहित्य और सस्कृति से क्या सम्बन्ध होगा, इस सवाल का जवाब ऊपर दिये हुए लेनिन के वाक्यों मे मौजूद है। पुराने और नये अनुभवो के लगातार मिलने से ही नया साहित्य फल-फूल सकता है। इस बात को 'नौजवान सभाओ के कर्तव्य' नाम के लेख में उन्होंने और साफ कर दिया था। उन्होंने लिखा था—'मनुष्य जाति ने जो ज्ञानराशि एकत्र की है, उससे समृद्ध होकर ही तुम कम्युनिस्ट बन सकते हो।'

(उप० पृ० ४५७)

लेनिन ने मार्क्स की मिसाल दी थी कि पुरानी सस्कृति का मूल्या-कन किस तरह किया जाता है। मार्क्स के सिद्धान्त करोडो जनता के सिद्धान्त इसीलिए बन सके कि मार्क्स ने पहले के अर्जित ज्ञान पर अपने पॉव रोपे थे। इसलिए सर्वहारा सस्कृति अधर मे नहीं फल-फूल सकती। सर्वहारा सस्कृति मनुष्य के पूर्वसचित ज्ञान को आगे बढाकर ही फल-फूल सकती है।

यहाँ पर यह सवाल हो सकता है कि जब साहित्य और सस्कृति वर्ग-हितो से जुड़े हुए हैं, तब पुरानी ज्ञान-राशि से कुछ सीखने का सवाल कैसे उठ सकता है? इसके अलावा बहुत से पुराने लेखक उच्चवर्गों के या गैर मजदूर वर्ग के थे, उनके साहित्य से कुछ सीखने का सवाल कैसे उठ सकता है?

लेनिन ने इस बात को बराबर स्पष्ट कर दिया था कि साहित्यकार और उस वर्ग का सम्बन्ध, जिसमे वह पैदा हुआ है, यान्त्रिक नही होता। मिसाल के लिए हर्जन पर लिखते हुए उन्होने १६वी सदी के पूर्वार्द्ध मे जमींदार वर्ग का जिक्र किया था। हर्जन का जन्म इसी वर्ग मे हुआ था। इस वर्ग में एक तरफ शराबी, जुआरी और शोहदे पैदा हुए थे, दूसरी तरफ उसमे कुछ क्रान्तिकारियो ने भी जन्म लिया था जिन्होने जार-शाही खत्म करने में जान की बाजी लगायी थी।

स्वय मार्क्स और लेनिन का जन्म मजदूर वर्ग में न हुआ था। इससे जाहिर है कि गैर मजदूर वर्ग के सस्कार कोई ऐसी चीज नहीं हैं जिन्हें इन्सान मिटा न सके। लेकिन वह उन्हे मिटा तभी सकता है जब वह बात को माने कि उसमें गैर मजदूर वर्ग के सस्कार—यानी सामती, पूँजीवादी या मध्यवर्गी सस्कार—मौजूद हैं और इन सस्कारो का कोई भी सम्बन्ध शुद्ध मानवतावाद से नही है।

लेनिन ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया था कि सामन्ती और पूँजीवादी समाज की सीमाओ के बावजूद लेखक, वैज्ञानिक और साहित्यकार ऐसी सस्कृति का निर्माण करते रहे हैं जो सर्वहारा वर्ग के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐसे लेखको और साहित्यकारो की रचनाएँ उनके जमाने की समाज-व्यवस्था की कडी नुक्ताचीनी करती हैं। सामन्ती और पूँजीवादी बन्धनों की आलोचना, उनसे आजाद होने की तीव्र भावना उनके साहित्य में वे तत्व पैदा करती है जो नयी सस्कृति के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। रूसी लेखकों और साहित्य पर लेनिन ने जो कुछ लिखा है, वह इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर लिखा है।

अपनी पुस्तक 'क्या करें' मे लेनिन ने इस बात पर जोर देते हुए कि मजदूर वर्ग को सबसे आगे बढे हुए सिद्धान्तो के प्रकाश मे आगे बढना चाहिये, रूसी मार्क्सवादियों के पहले के साहित्यकारो के बारे मे यह लिखा है :—

'पाठक को हर्जन, बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की और १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध के गौरवशाली क्रान्तिकारी नक्षत्रों की पाँति का स्मरण करना चाहिये, रूसी साहित्य जो विश्व-महत्त्व प्राप्त कर रही है, उसकी तरफ उसे ध्यान देना चाहिये।'
(उप० पृ० ११२)

इन शब्दों से जाहिर है कि लेनिन जारशाही रूस के जनवादी और क्रान्तिकारी लेखकों को कितना ऊँचा स्थान देते थे। वह इन रूसी लेखकों की रचनाएँ बराबर पढ़ा करते थे और अपने लेखों, भाषणों आदि में उनसे मिसालें दिया करते थे। अपनी पुस्तक 'मैटीरियलिज्म ऐंड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' में उन्होंने चर्निशेवस्की की तुलना मार्क्स और एंगेल्स से की है। उसे उन्होंने 'महान् रूसी हेगल्वादी और भौतिकवादी' 'महान् रूसी लेखक' आदि कहा है।
('मैटीरियलिज्म ऐंड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' अंग्रेजी संस्करण। (पृ० ३७४)।

अन्त में लेनिन ने लिखा है—'लेकिन चर्निशेवस्की मार्क्स और एंगेल्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की सतह तक नहीं उठ पाये थे। रूसी जीवन के पिछड़ेपन की वजह से वह ऐसा नहीं कर पाये।'
(उप० पृ० ३७४)

इन शब्दों से पता चलता है कि लेनिन किसी लेखक की रचनाओं का मूल्यांकन किस ऐतिहासिक ढङ्ग से करते थे। जिन लोगों ने साहित्य और दर्शन में जनवादी और क्रान्तिकारी परम्परा की नींव डाली थी, उसका वे कितना सम्मान करते थे।

चर्निशेवस्की पर लेनिन के वाक्य इस बात की मिसाल हैं कि मार्क्सवादी लेखक साहित्य की जनवादी परम्परा का किस तरह मूल्यांकन और किस तरह उससे नये साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

(४)

साहित्य-रचना जब सर्वहारा-उद्देश्य के अन्तर्गत होगी, तब इस बात पर ध्यान देना और भी जरूरी होगा कि विषय-वस्तु और रूप (कण्टेण्ट

एण्ड फार्म) दोनो ही की दृष्टि से वह ऐसा साहित्य हो कि जनता उसे समझ सके और वह जनता को पूँजीवाद को खत्म करने और समाजवाद का निर्माण करने में सहायता दे सके। कुछ लोग समझते हैं कि मार्क्स-वाद सिखाता है कि हम साहित्य मे चाहे जैसी विषय वस्तु दें, चाहे जैसे उसका रूप सँवार दें, (या उसे कुरूप कर दें), इससे उसके असर मे कोई बट्टा नही लगता। इस तरह की बातें रूपवादी (फार्मलिस्ट) ही सोच सकते हैं जो साहित्य को जनता से एक अलग चीज समझते हैं, जो यह मानते हैं कि रूपों मे उन्हे मनमानी तब्दीलियाँ करने का अधि-कार है और कला का सम्बन्ध आदि से अन्त तक कलाकार से है न कि जनता से भी। लेनिन ने साहित्य के रूप का मसला उसी कसौटी पर हल किया था जिस कसौटी पर वे और तमाम मसले हल किया करते थे—यानी सर्वहारा-सङ्घर्ष और समाजवादी निर्माण की कसौटी पर।

१९१८ में सोवियत अखबारों को आगाह करते हुए उन्होंने लिखा था—'राजनीतिक आतिशबाजी कम होनी चाहिए। बौद्धिक तर्कजाल कम होना चाहिए। जिन्दगी के और नजदीक आओ। इस पर ज्यादा ध्यान दो कि किसान और मजदूर अवाम अपने रोजमर्रा के काम मे, हकीकत मे, कौन-सी चीज गढ रहे हैं। इस बात को परखने की तरफ और ज्यादा ध्यान दो कि जो नयी चीज गढी गई है, वह कम्युनिस्ट है।'

लेनिन साहित्य के रूप की तरफ ध्यान ही न देते थे बल्कि उसे सँवारने का एक ही रास्ता सुझाते थे—यानी अवाम की जिन्दगी के और नजदीक आओ। अगर लेखो में हलकापन है, उनमें राजनीतिक आतिशबाजी है, बौद्धिक तर्कजाल है, तो ये खामियाँ समाजवादी निर्माण में लगी हुई जनता के और नजदीक आने से ही दूर हो सकती हैं।

एक दूसरे लेख में भी उन्होंने सोवियत पत्रों के शब्द-जाल रचने की आलोचना की थी। यहाँ भी इस मसले को उन्होंने शुद्ध शैली की समस्या की तरह नहीं देखा बल्कि उसकी राजनीतिक बुनियाद की तरफ इशारा

करते हुए उसे पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का शब्द-जाल कहा है। उन्होंने सोवियत प्रेस से माँग की कि वह पूँजीवादी अतीत के इन जीर्ण अवशेषों के खिलाफ सङ्घर्ष करके उन्हें खत्म कर दें।

(मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सिज्म, पृ० ४१६)

मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार पर लिखते हुए लेनिन ने एंगेल्स की चुभती हुई व्यंग्यपूर्ण शैली का ज़िक्र किया था (उप पृ० ६६)। लेनिन स्वय व्यंग्यपूर्ण शैली के अद्वितीय लेखक थे। 'सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काटस्की' नाम की पुस्तक उनकी इस शैली की बड़ी अच्छी मिसाल है। एक-आध बार अस्वस्थ रहने के कारण जब उन्होंने बोल कर लिखाया तो उन्हें उससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने उस पाण्डुलिपि को फाड़ कर फिर उसे स्वय लिखा।

शैली की स्पष्टता, शब्दों का सधा हुआ प्रयोग, हास्य-विनोद और व्यंग्य के छींटे, क्रोध और आवेश से जलते हुए वाक्य, कहावतें, मुहावरे, पुराने लेखकों की रचनाओं से उद्धरण—लेनिन की शैली एक अध्ययन की वस्तु है जो बतलाती है कि इस महान् क्रान्तिकारी विचारक ने भाषा और शब्दों पर, अपनी व्यञ्जना के माध्यम पर, साहित्य के रूप पर, किस तरह अधिकार पा लिया था। लेनिन की रचनाएँ एक प्रभावशाली शैली के गुणों से भरी-पूरी इसलिए हैं कि वे आम जनता के सङ्घर्ष और समाजवादी निर्माण के लिए लिखी गई थीं। वे सङ्घर्ष से तटस्थ रहने वाले किसी कलाकार का कमाल नहीं थीं।

लेनिन के जीवन की एक घटना इस विषय पर काफी प्रकाश डालती है। जिन दिनों देशी-विदेशी दुश्मनों के खिलाफ गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था, उन्हीं दिनों लेनिन ने रूसी लेखकों का आह्वान किया कि रूसी भाषा को बिगाड़ने वालों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दो।

(सोवियत पत्रिका 'नोवी मीर' के जून १९४७ के अङ्क में उद्धृत)।

जहाँ भाषा, शब्दों के प्रयोग, शैली और साहित्य के रूपों की तरफ

लेनिन की ऐसी सतर्कता थी, वहाँ दूसरी तरफ साहित्य की विषय वस्तु में वह किसी तरह की भी गुमराही को माफ करने वाले नहीं थे। लेनिन ने सोवियत साहित्य के आरंभ के दिनों में ही दिखाया था कि गैर-मार्क्सवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ कैसे सङ्घर्ष करना चाहिये।

रूसी क्रांति के बाद लेनिन ने गोर्की को लिखा था कि 'तुमने अपने को ढुलमुलयकीन सम्पादकों की पंक्ति में बिठा लिया है। इस जगह से नये जीवन, नये निर्माण को देखना नामुमकिन है। इस जगह बैठे रहने से तमाम शक्ति बीमार बुद्धिजीवियों के रोने कराहने में खर्च हो जाती है। तुमने अपने को ऐसी जगह बिठा रक्खा है जहाँ से किसानों और मजदूरों, यानी रूसी आबादी के ६० फी सदी हिस्से की जिन्दगी में जो कुछ नया है, उसे देख सकना नामुमकिन है। जिस शहर से मजदूर-वर्ग के सपूत मोर्चे पर और देहात चले गये हैं, उसमें तुम्हें मजबूरन पहले की राजधानी के जीवन के रहे-सहे हिस्से देखने को मिलते हैं।'

साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध पर लेनिन ने इसी पत्र मे गोर्की को लिखा था : 'कलाकार के रूप मे तुम वहाँ [यानी पेत्रोग्राद में] रहते हुए वह सब नहीं देख सकते जो नया है और फौज, गाँव और कल-कारखानों में हो रहा है। तुमने उस काम से किनाराकशी कर ली है जो कलाकार को सन्तुष्ट कर सकता था। पेत्रोग्राद में रहते हुए जरूरी है कि राजनीति मे काम किया जाय लेकिन तुम तो कलाकार हो!

'हमारा देश सारी दुनिया के पूँजीवादियों के खिलाफ सङ्घर्ष की सरगर्मी से गुजर रहा है। पूँजीवादी अपना पतन होने से किटकिटा कर बदला लेने की कोशिश कर रहे हैं। हकीकत यह है। प्रथम सोवियत प्रजातन्त्र पर चारों तरफ से प्रहार हो रहे हैं—सचाई यह है। यहाँ पर सक्रिय राजनीतिक जीवन बिताना जरूरी है और अगर कोई राजनीति मे हिस्सा न ले तो वह क्या देखेगा, क्या रचेगा ?

'मै अपनी बात तुम पर लादना नहीं चाहता लेकिन यह कहे बिना

नही रह सकता कि तुम्हें अपनी जगह अपना वातावरण, अपना काम बदल देना चाहिये वर्ना हो सकता है कि तुम जिन्दगी से ही आजिज आ जाओ।' (उप०)

इस तरह लेनिन ने दिखाया कि अवाम की जिन्दगी के नजदीक रह कर, उसके साथ घुल-मिल कर, उसके साथ आगे बढ कर ही कोई लेख अपने साहित्य को सबल और पुष्ट बना सकता है। रोमांटिक अकेलापन, ऊब, उदासी और निराशा, कला और कलाकार दोनो के लिए घातक हैं।

सोवियत सङ्घ मे लेखको और कलाकारो का एक सङ्गठन था जिसे प्रोलेत कुल्त (Prolet Cult) कहते थे।

इस सङ्गठन मे निम्न पूँजीवादी विचारधारा के लेखक—फ्यूचरिस्ट और डिकेडेंट तक—घुसे हुए थे और बहुत जगह उन्होंने उसका नेतृत्व अपने हाथ मे ले रखा था। साहित्य की स्वाधीनता के नाम पर इसमें मार्क्सवाद-विरोधी विचारधारा का प्रचार कि । जाता था। नयी सस्कृति के नाम पर अनेक लेखक बेसिर-पैर की चीजें लिखने लगे थे जिनका रूप भोंडा होता था और विषय-वस्तु प्रतिक्रियावादी होती थी। लेनिन के नेतृत्व मे बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इनकी हानिकर प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रस्ताव पास किया। उस प्रस्ताव के साथ केन्द्रिय कमेटी ने प्रोलेत-कुल्त सङ्गठनो के नाम एक पत्र भी भेजा था। केन्द्रीय कमेटी का कहना था :

'फ्यूचरिस्ट, डिकेडेंट, मार्क्सवाद-विरोधी धाराओ के समर्थक, और अन्त में साधारण पूँजीवादी मतो और विचारो के खुले असफल हिमायती भी उसमे घुस आये हैं और वे प्रोलेतकुल्त पर छाये हुए हैं। ऐसी 'सर्वहारा-सस्कृति' मे पूँजीवादी दर्शन मार्क्सवाद के रूप मे मजदूरो के सामने पेश हुआ है और कला के क्षेत्र में फ्यूचरिज्म के भोंडे, विकृत और हास्यास्पद रूप मजदूरों पर थोपे गये हैं।' (उप०)

लेनिन के नेतृत्व मे केन्द्रीय कमेटी ने इन गैर मार्क्सवादी प्रवृत्तियो के मूल स्रोत पर प्रकाश डालते हुए लिखा था : '१६०५ की क्रान्ति के विफल होने पर और बाद को १६०७—१२ मे जो मार्क्सवाद-विरोधी विचार खूब फूले-फले थे और 'सोशल डिमौक्रैट' कहलाने वाले बुद्धिजीविया पर छा गये थे, प्रतिक्रिया के दिनो मे, आदर्शवादी दर्शन की विभिन्न धाराओ मे और देवोपासना में जैसे कुछ लोग मगन रहने लगे थे—वही सब मत और विचार अपना भेष बदल कर आज के मार्क्सवाद-विरोधी बुद्धिजीवियो द्वारा प्रोलेत कुल्त पर थोपे जा रहे हैं।'

केन्द्रीय कमेटी ने यह बात साफ कर दी थी कि वह सर्वहारा बुद्धि-जीवियो के विकास पर किसी तरह की रोक न लगती थी बल्कि उनके विकास के लिए हर तरह की सहूलियतें देना चाहती थी। 'केन्द्रीय कमेटी इस बात का मूल्य समझती है और उसका आदर करती है कि आगे बढे हुए मजदूर व्यक्तित्व आदि के और भरे-पूरे विकास के प्रश्न सामने रखते हैं। पार्टी इस बात को बहुत महत्त्व देती है। यह काम पूरी तरह मजदूर-बुद्धिजीवियो के हाथ मे रहे, इसके लिए मजदूर-राज्य की तरफ से उन्हें हर तरह की सुविधाएँ मिलेंगी।' (उप०)

इस तरह लेनिन ने साहित्य मे मार्क्सवाद-विरोधी प्रवृत्तियो के खिलाफ निर्ममता से युद्ध करना सिखाया। उसी परपरा पर चलते हुए ज्दानोव ने जोश्चेंको और आखमातोवा की रचनाओ के मार्क्सवाद-विरोधी तत्वो की कडी आलोचना की थी।

साहित्य का रूप फ्यूचरिस्टो की तरह विकृत न किया जाय बल्कि लोकप्रिय बनाया जाय, साहित्य की विषय-वस्तु दिमाग़ी और हवाई न हो बल्कि आम जनता की जिन्दगी से ली जाय—यही लेनिन की सीख थी।

पूँजीवादी समाज मे मजदूरों को वर्ग-चेतन बनाना, पूँजीवादी समाज की असङ्गतियो को पेश करना, पूँजीवादी शोषण को खत्म करने की

उत्कण्ठा पैदा करना—यही साहित्यकार का कर्तव्य होना चाहिये। अपनी पुस्तक 'क्या करें ?' में लेनिन ने लिखा था : 'जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जनता के सभी वर्गों और स्तरों में सोशल डिमौक्रैटों को कैसा राजनीतिक प्रचार करना चाहिये, उनसे हम कहेंगे कि प्रचार का मुख्य रूप (लेकिन एकमात्र रूप नहीं) राजनीतिक तौर से पर्दाफाश करना होना चाहिये। पर्दाफाश करने वाले साहित्य के लिए आदर्श पाठक मजदूर हैं जिन्हें व्यापक और सजीव राजनीतिक ज्ञान की सबसे ज्यादा जरूरत है, जो इस ज्ञान को सक्रिय सङ्घर्ष का रूप देने की सबसे ज्यादा क्षमता रखते हैं, भले ही उस सङ्घर्ष से सोलह आना फल न मिले।'

इस तरह पूँजीवादी परिस्थितियों में पूँजीवादी वर्ग की वर्ग-नीति का पर्दाफाश करना साहित्य का एक प्रमुख कर्तव्य हो जाता है।

समाजवादी निर्माण की परिस्थितियों में लेखक का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि जनता किन नयी चीजों का निर्माण कर रही है और उनका चित्रण करे। यह बात गोर्की को लिखे हुए पत्र से—जिसका हवाला ऊपर दिया गया है—साफ हो जाती है।

मुख्य बात यह है कि लेखक जब मजदूरों और किसानों को अपना पाठक समझ कर लिखेंगे तभी वे उन दोषों से बच सकेंगे जो पूँजीवादी लेखकों की रचनाओं में पाये जाते हैं।

बिजली के काम पर स्कोत्सोव-स्तेपानोव की किताब की भूमिका में लेनिन ने लिखा : 'इस लेखक ने जो कुछ कहना चाहा है, उसे बहुत ही साफ ढङ्ग से कह दिया है—बुद्धिजीवियों के लिए नहीं (जैसा कि हमारी पुस्तकें लिखी जाती हैं जो पूँजीवादी लेखकों के सबसे खराब ढङ्ग की नकल करती हैं) बल्कि मजदूरों के लिए, वास्तविक जनता के लिए, साधारण मजदूरों और किसानों के लिए।' ('नोवीमीर' पत्रिका में उद्धृत)

लेनिन ने यहाँ पर और दूसरी जगह सोवियत अखबारों पर लिखते

हुए, इस बात से बार-बार आगाह किया था कि मार्क्सवादी लेखक उन दोषो से बचें जो थोड़े से लोगो को ध्यान में रखकर लिखने मे पूँजीवादी लेखको में आ जाते हैं।

इस तरह लेनिन ने जन-साहित्य के निर्माण का रास्ता दिखाया था।

(५)

मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि कम्युनिज्म ऐसा मानववाद है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति को खत्म कर दिया गया हो। यूरोप में पूँजीवाद के उत्थान-काल में—रिनैसेन्स के युग में—शेक्सपियर जैसे महान् लेखकों ने जिस मानववाद—ह्यूमेनिज्म—की सृष्टि की थी, उसका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव नहीं बल्कि उसकी प्रतिष्ठा थी। रिनैसेन्स के मानववादी लेखक पूँजीवादी अभ्युदय काल की उपज थे। उनका मानववाद उन क्रान्तिकारी धारणाओं की बुनियाद पर कायम हुआ था जिन्हें पूँजीवाद ने सामन्तशाही के ढाँचे की जगह प्रतिष्ठित किया था। उनके मानववाद का भी वर्ग आधार था। यह वर्ग पूँजीवादी वर्ग था जो सामन्तशाही से लड़ते हुए उस समय एक क्रान्तिकारी भूमिका पूरी कर रहा था। एगेल्स ने 'एँटी ड्यूरिंग' में दिखाया है, किस तरह न्याय, समानता और विवेक (Reason) के उपासक—रूसो आदि—पूँजीवादी प्रजातन्त्र की धारणा से आगे नहीं बढ पाये।

मार्क्स ने कम्युनिज्म को—एक नये मानववाद को—दूसरे वर्ग का आधार दिया। यह वर्ग मजदूर वर्ग था। पूँजीवादी वर्ग ने जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुनियाद पर न्याय-विवेक और समानता का सांस्कृतिक महल बनाया था, मजदूर वर्ग उस व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुनियाद को खत्म करता है। सामाजिक उपयोग की सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार के बदले मार्क्स ने सामाजिक अधिकार के सिद्धान्त का प्रचार किया।

लेनिन ने दिखाया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर पूँजीवाद ने जनता का भयानक शोषण किया है उसने समाज के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक-विकास के सभी रास्ते बन्द कर दिये। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करके ही समाज के चौमुखी विकास का रास्ता खुल सकता है।

इस तरह सांस्कृतिक क्षेत्र मे लेनिन ने एक नये मानववाद की प्रतिष्ठा की। यह मानववाद रिनैसेन्सकाल के मानववाद का आधार पूजीवादी वर्ग था, उसके न्याय, विवेक और समानता का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। इस मानववाद का आधार मजदूर वर्ग था, इसके न्याय विवेक और समानता का आधार सम्पत्ति पर समाज का अधिकार था।

आम जनता को बरगलाने के लिए पूँजीवादी लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि पुराने मानववाद का कोई वर्ग आधार नहीं था। इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि साहित्य मे मजदूर और पूँजीवादी वर्गो के भेद का, उनके सङ्घर्ष का, जिक्र न होना चाहिये क्योंकि आखिर मजदूर और पूँजीपति, हैं तो दोनों मानव ही।

पहले महायुद्ध मे पूँजीवादी मुनाफाखोरी के हित मे देश भक्ति के नाम पर लाखो साधारण जनो को युद्धभूमि मे भून डाला गया। इस हत्या और षडयत्र का सबसे पहले भडा-फोड़ किसने किया? सिर्फ लेनिन और उनकी बोल्शेविक पार्टी ने मार्क्सवादी उसूलो के आधार पर दिखाया कि यह साम्राज्यवादी युद्ध जनहत्या का पूँजीवादी षड़यन्त्र है। यही नही, उन्होने उस षडयन्त्र को खत्म करने का रास्ता भी दिखाया। यह रास्ता सर्वहारा क्रान्ति और मजदूर अधिनायकत्व का रास्ता था। वही 'मानववादी' लेखक जो साम्राज्यवादी युद्ध और हत्या का समर्थन कर रहे थे, रूसी क्रान्ति शुरू होते ही लेनिन और बाल्शेविक पार्टी पर मनो कीचड उछालने से नही चूके क्योकि दुनिया के एक छठे हिस्से पूँजीवादी शोषण का खत्म होना उन्हें जरा भी अच्छा नहीं लगा।

लेनिन ने वर्ग-भेद को छिपाया नही बल्कि शुरू से ही अपनी रचनाओ मे वे उसे साफ-साफ दिखाते रहे। १८९५-९६ मे सोशल डिमौक्रैटिक पार्टी के कार्यक्रम पर लिखते हुए उन्होंने पूँजीपतियो के लिए लिखा—'अमीरो की शाहखर्ची और ऐयाशी की कोई सीमा नही रही। बड़े-बड़े शहरो के राजमार्गों पर उनकी आलीशान कोठियाँ और महल खडे हुए हैं।' लेकिन दूसरी तरफ 'मजदूरो को गन्दी कोठरियों मे रहना पडता है, ठढे, सीलनभरे घरो में ठूँस-ठूँस कर उन्हे रक्खा गया है। अक्सर जहाँ नये कारखाने बनते हैं, वहाँ वे जमीन खोदकर खुले मे ही रहने पर मजबूर होते हैं।'

लेनिन के इन शब्दो से पता चलता है कि एक सच्चे मानववादी का हृदय पूँजीवादी शोषण के प्रति कैसे क्रोध और घृणा से भर जाता है।

जारशाही रूस मे पचासो जातियो को गुलाम बना कर रखा गया था। रूसी और गैर रूसी (अग्रेज और फ्रासासी) पूँजीपति इन जातियों का भयानक शोषण करते थे। जारशाही ने इन जातियो के राजनीतिक और आर्थिक अधिकार छीन लिये थे। इसके खिलाफ यूरोप के 'मानववादी' लेखको के मुँह से एक शब्द न निकलता था। लेनिन और स्तालिन ने ही सबसे पहले घोर पूँजीवादी विरोध का सामना करके इनकी स्वाधीनता का समर्थन किया था। लेनिन और स्तालिन की बोल्शेविक पार्टी ने ही आगे बढी हुई, पिछडी हुई, मिटती हुई जातियों को जार, पूँजीवाद और सामन्तशाही से सही माने में आजाद किया।

१९१५ मे 'आत्मनिर्णय और सर्वहारा वर्ग' पर लिखते हुए लेनिन ने जारशाही रूस के लिए कहा था 'रूस तमाम जातियो का कठघरा है।' लेनिन और स्तालिन को छोड कर किस मानववादी मे यह हिम्मत थी कि वह गैर रूसी जातियो के लिए न्याय की यह माँग करता?

लेनिन ने जारशाही के अन्याय और अत्याचार को ही नही ललकारा

था, उन्होंने एशिया के देशो मे साम्राज्यवादी अत्याचार को भी चुनौती दी थी। बीसवी सदी के आरम्भ मे, जब सन् २० के असहयोग आन्दोलन में अभी देर थी, जब यूरोप और इग्लैण्ड के 'मानववादी' ब्रिटिश-राज्य की सभ्यता और उसके जनवादी होने का गुणगान कर रहे थे, उस समय लेनिन ने—१९०८ के अपने प्रसिद्ध लेख विश्वराजनीति मे आग का सामान ('Inflammable Material in World-politics') में— अग्रेजी राज्य के बारे मे लिखा था : 'उस हिंसा और लूट की कोई हद नहीं है जिसे भारत मे अग्रेजी राज कहा जाता है। दुनिया के किसी भी हिस्से मे जनता इतनी गरीब, बदहाल और भुखमरी से परेशान नहीं जितनी हिन्दुस्तान में।

इगलैण्ड मे जिन राजनीतिज्ञो को उग्रपथी और उदार कहा जाता था, जो हिन्दुस्तान को 'सुधार' (Reforms) देने की बात कहते थे, उनकी कलई खोलते हुए लेनिन ने उन्हें 'वास्तविक चगेज खाँ' कहा था जो 'अपनी हुकूमत के अन्दर रहने वाली जनता को हर तरह से 'शान्त' रखने की कोशिश करते हैं और राजनीतिक विरोधियों को बेतों से पीटने से भी बाज नहीं आते।

लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी पर बम्बई की जनता ने जो प्रदर्शन किये थे, उस पर उत्साह प्रकट करते हुए लेनिन ने लिखा था : 'लेकिन अपने लेखकों और राजनीतिक नेताओ के समर्थन मे अब हिन्दुस्तान की जनता निकल कर सड़कों पर आने लगी है। अग्रेज गीदड़ो ने हिन्दुस्तान के जनवादी नेता तिलक को जो घृणित सजा सुनाई है • थैलीशाहों के चाकरों ने एक जनवादी नेता की तरफ जो प्रतिहिंसा दिखाई है, उससे बम्बई की सड़कों पर जनता ने प्रदर्शन किये हैं और वहाँ हड़ताल हुई है। और हिन्दुस्तान का सर्वहारा वर्ग अब इतना परिपक्व हो गया है कि वर्गचेतन ढङ्ग से राजनीतिक जनसङ्घर्ष शुरू कर दे।

ऐसी हालत मे अब हिन्दुस्तान मे ऐंग्लो-रूसी तरीके कारगर नहीं हो सकते ।'

पूँजीवादी देशों के 'मानववादी' लेखकों ने उपनिवेशो मे अंग्रेजों के जुल्म और दमन का विरोध नहीं किया । इस मसले पर उनका मानव-वाद सो गया । सिर्फ लेनिन ने, १६०८ मे ही, गोरे-साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करके हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन का स्वागत किया था। मजदूर वर्ग की सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता, उसका क्रान्तिकारी मानववाद इस तरह का होता है ।

लेनिन ने मजदूर वर्ग मे नयी जागरुकता पैदा की । उसके मार्क्स-वादी सिद्धान्तों को उन्होंने और पैना किया । इन सिद्धान्तो के बल पर उन्होने नये समाज के नये सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण किया । उन्होंने मजदूर वर्ग और शोषित जनता को सिखाया कि वह पूँजीवादी धोखे-बाजी और कपटनीति से घृणा करे । रूस की पूँजीवादी सरकार ने गुप्तसंधियाँ की थीं, लेनिन ने क्रान्ति शुरू होते ही उनको प्रकाशित कर दिया । पूँजीवादी कूटनीति के बदले उन्होने मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति को आगे रखा । उन्होने जनता को धीरता, साहस, भाईचारा, वीरता के गुण सिखाये जो क्रान्तिकारी संघर्ष की आँच में पककर मजबूत हुए और चमक उठे ।

क्रान्तिकारी पार्टी में अनुशासन कैसे कायम किया जाता है, यह बताते हुए लेनिन ने पहली शर्त यह रक्खी थी कि सर्वहारा वर्ग के अग्रदल में वर्ग-चेतना होनी चाहिये, क्रान्ति के लिए लगन होनी चाहिये, धीरज, बलिदान और वीरता की भावना होनी चाहिए ।

(मार्क्स-एंगेल्स मार्क्सिज्म, पृ० ८१)

लेनिन ने ये नैतिक गुण बोल्शेविक पार्टी को सिखाये जिससे वह दुनिया की पहली समाजवादी क्रान्ति करने में सफल हुई । आज तमाम सोवियत जनता लेनिन को अपना आदर्श मानकर उस स्तर पर अपनी

नैतिकता का विकास कर रही है जो पूँजीवाद समाज में सम्भव ही नहीं है।

सोवियत साहित्य इस नयी नैतिकता, इस नयी मानवता, इस नयी संस्कृति का दर्पण है। लेनिन के बताये हुए मार्ग पर चल कर सोवियत साहित्य उन सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित कर रहा है जिनका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है बल्कि सामाजिक अधिकार है।

पूँजीवादी देशो मे क्रान्तिकारी और प्रगतिशील साहित्य का जहाँ दमन किया जाता है, सम्प्रदाय जाति और वर्ण के भेद-भाव उकसाये जाते हैं, प्राचीनतावाद और धार्मिक अंधविश्वासो मे जनता को भटकाया जाता है, युद्ध और हिंसा की आग मे जनता को झोंक देने के लिए साहित्य से प्रचार कराया जाता है, वहाँ सोवियत-समाजवादी देश मे मानववादी साहित्य फलता-फूलता है, वह पुराने साहित्य के उन नैतिक मूल्यो की रक्षा करता है जिन्हें पूँजीवादी शासक वर्ग नष्ट करता है, वह पूँजीवाद को खत्म करके नये सुखी समाज के निर्माण की तस्वीर देता है जिससे दुनिया भर के शोषित वर्ग अपने भाग्य का निर्माण करें।

लेनिन के बताये हुए मार्ग पर चल कर ही आज सोवियत साहित्य संसार के प्रगतिशील और जनवादी साहित्य का सिरमौर बना है। इसलिए साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचारों से परिचित होना हर देश के लेखको के लिए जरूरी है। हिन्दुस्तान जैसे देश के लिए यह और भी जरूरी है जिसने गुलामी और गरीबी में सबसे ज्यादा दिन बिताये हैं। लेनिन के विचार इस गुलामी और गरीबी को दूर करके नयी संस्कृति, नये साहित्य और नये समाज की तरफ बढ़ने का रास्ता दिखाते हैं।